इस ग्रन्थमें पनार निवासी

शा. अमरचंद तथा माणाभाईकी

तरफसे सहायता मिली है,

अतः सोसायटी उन्हें अन्तःकरणपूर्वक

धन्यवाद देती है ॥

पुस्तक मिलनेका पता—

श्री आत्मतिलकग्रन्थ सोसायटी

शा. सकुभाई तलकचंद,

रतन पोल-अमदावाद.

मुनि श्री तिलकविजयजी पंजाबी.

Lakshmi Art, Byculla, Bombay.

मुनि महाराज श्रीमान् वल्लभविजयजी.

D. J. P. Ahmedabad.
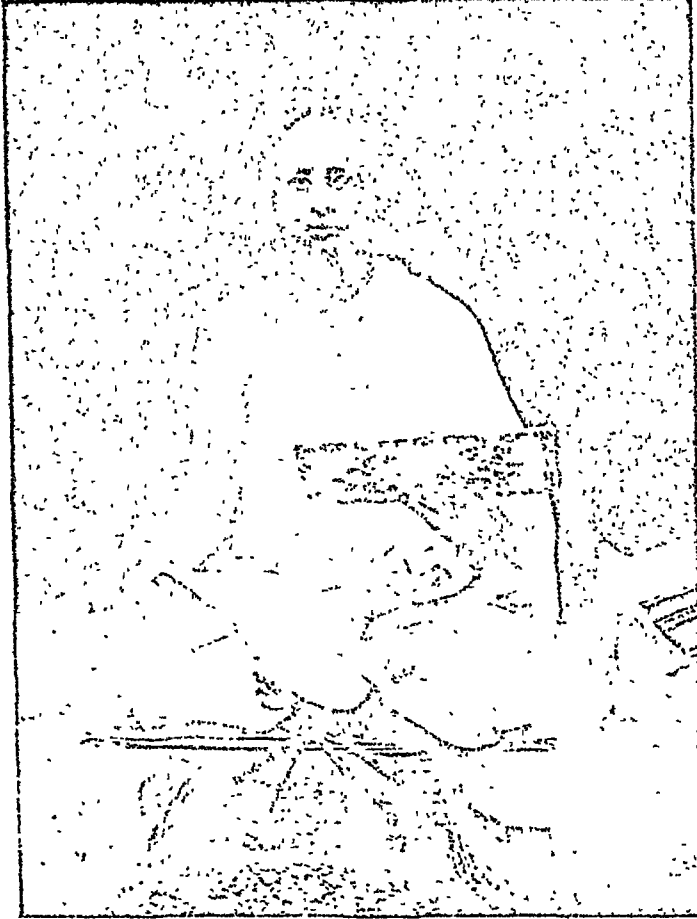
॥ समर्पण ॥

परम पूज्य विद्वद् शिरोमणि

परोपकार रसिक परम गुरुवर्य

श्रीमान् वल्लभविजयजी महाराज साहब

के करकमलोंमें यह हिन्दी गुणस्थानक्रमारोह

सविनय समर्पित है।

आशा है कि आप साहब इस लघु ग्रंथको

प्रेमपूर्वक स्वीकार कर सेवकको

अनुग्रहित करेंगे।

भवदीय कृपाकांक्षी—

मुनि तिलक विजय पं.

प्रस्तावना.

अर्हम्.

शांतो दांतः सदा गुप्तो, मोक्षार्थी विश्व वत्सलः ।
निर्दंभां यां क्रियां कुर्यात्, साध्यात्म गुण वृद्धये ॥

(श्रीमान् यशोविजयजी.)

विदित हो कि वीतरागके दर्शनमें बद्ध और मुक्त भेदसे आत्मा दो प्रकारकी होती है। वीतराग सदृश आत्माको मुक्तात्मा कहते हैं और राग द्वेषयुक्त आत्माको बद्ध आत्मा कहते हैं। सदृश गुण-धर्मको धारण करनेवाली आत्मामें यह भेद कबसे और क्यों पड़ा है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीसर्वज्ञदेवने निज आगममें स्पष्ट दर्शाया है कि, ऐसा कोईभी समय देखनेमें नहीं आया है कि जिस समयमें आत्माके भेदका नास्तित्त्व हो और अभेदका अस्तित्त्व हो। आत्माकी भेदक कर्मरूप उपाधि अनादिकालसे ही विद्यमान हैं, इस लिये समान गुण-धर्मके धारक नाना आत्माओंमें भी बद्धात्मा और मुक्तात्माका व्यवहार आधुनिक नहीं परंतु अनादिकालका ही है।

जिसको कर्म कहते हैं, वह रूपी और जडत्वादि गुणका धारक है। और जिसको आत्मा कहते हैं वह अरूपी तथा ज्ञानादि गुणकी धारक है। कर्म सर्वथा भिन्न धर्मका धारक होते हुए भी आत्माके साथ मिला हुआ आत्माकी भांति दीखता है। स्थूल बुद्धिवालेको कर्म प्रपंचके विना आत्माके वास्तविक स्वरूपका बोध बुद्धिग्रस्त नहीं होता है। कितनेक बाल जीव तो दृश्य शरीरको ही आत्मा मानते हैं। चार्वाककी मति भी अभिन्नाभास कर्मके प्रपंचमें कुंठित हो गई है। यह भी इंद्रियग्राह्य पदार्थोंको छोड़कर

अन्य कोई अरूपी चैतन्यादि गुणका धारक पदार्थ है, ऐसी मान्यतासे सर्वथा किनारे ही रहता है।

यह कर्मरूप उपाधि मुख्य आठ और गौण एकसो अड़तालीस या एकसो अठावन जातिकी खासीयत-प्रकृति द्वारा आत्माके अनंत ज्ञानादि गुणको आच्छादित करती है। उपाधिमें मिले हुए आत्माके गुणोंको विभिन्न करके दिखलाना जैसे दूध और पानी, मिट्टी और सुवर्णका दुःसाध्य होता है, वैसे ही यह भी दुःसाध्य है, जब तक दूध-पानी तथा मिट्टी-सुवर्णकी तरह आत्मा और कर्मका संयोग बना हुआ है तब तक इसे बद्धात्मा कहते हैं। और सुवर्ण मिट्टीके वियोग सदृश इसका भी कर्मसे वियोग हो जाता है, तब यह मुक्तात्मा कही जाती है। अनादिकालसे कर्मरूप उपाधिसे घिरि हुई भी आत्मा अष्टरूचक प्रदेशसें सदा सर्वदा अबद्ध ही रहती है। यूं तो आत्मा अनादिसे कर्माधीन होनेसें परतंत्र है, और इसी हेतुसे स्वगुणको विस्मृत करती हुई निरंतर पर परिणतिमें रमणता कर रही है। परगुणको स्वगुण माननेसे रूप रसादिकी स्पृहा निरंतर करती रहती है। अच्छे रूपादिको प्राप्त करके हर्ष-युक्त होती है, और बुरे रूपादिके प्राप्त होनेसें खेदयुक्त होती है। इस प्रकार पराधीन होनेसे निरंतर उसी कर्मके कार्य करती हुई कर्मको ही पुष्ट करती है और अपनी पुष्टिकी ओर दृष्टि भी नहीं करती। आत्मा और कर्म दोनों ही अनंत शक्तिके धारक हैं, तथा स्वस्वरूपमें रमण करनेवाले हैं। अनादिकालसे दूध और पानी की तरह आत्मा और कर्म परस्पर ऐसे मिले हुए हैं कि आत्माका शुद्ध स्वरूप दिखलाई नहीं देता। कर्मने आत्माके अष्टरूचक प्रदेश छोड़कर सर्व प्रदेश ढक रखे हैं, तब भी आत्मा यदि कर्मका आच्छादन दूर करना चाहे तो कर सकती है, और अपने संपूर्ण गुणोंको प्राप्त करके कर्म प्रपंचको हटा सकती है। जितने जितने

कर्मांशसे आत्मा मुक्त होती जाती है, उतने उतने अंशमें आत्माको गुण प्राप्त होता जाता है। वीतरागके दर्शनमें चतुर्दश ही गुण-स्थान कहे गये हैं। कर्मकी एकसौ अड़तालीस या एकसौ अठावन प्रकृति उत्तरोत्तर चतुर्दश गुण प्राप्त होते तकमें आत्मासें छुट जाती हैं। तदनन्तर आत्मा पूर्ण स्वतंत्रताको धारण करती हुई समग्र निज ज्ञानादि गुणोंको प्रकाशित करती है। प्रस्तुत ग्रन्थमें इस बातका सविस्तर वर्णन किया गया हैं। मूल ग्रन्थकार रत्नशेखर सूरीश्वरजी हैं। अनुवादमें प्रासंगिक वार्तोंका विवेचनपूर्वक स्पष्ट उल्लेख किया है। यद्यपि यह ग्रन्थ सटीक मुद्रित होकर प्रकाशित हो चुका है, और संस्कृतज्ञोंने गुणस्थान तथा उसका क्रमसे आ-रोहण किस प्रकार होता है, भलीभांति बुद्धिग्रस्त किया है। तथापि संस्कृत भाषासें अनभिज्ञ जनोंको सूरीश्वरजीकी कृति अकिंचित्कर समझकर मूलके भावकी रक्षापूर्वक इस ग्रन्थानुवादमें प्रयास किया गया है। इस ग्रन्थका शब्दार्थ मात्र अनुवाद बना-रस निवासी सितारेहिन्द राजाशिवप्रसादजीकी भगिनी श्रीमति गोमति बाईने स्वयं करके मुद्रित करवा कर प्रकाशित किया था और वह अनुवाद हिन्दी भाषा भाषिओंने पढ़कर कुछ लाभ भी उठाया है। परंतु शिर्फ शब्दका अर्थ मात्र ही होनेसे चाहिए वैसा स्पष्ट बोधका अभाव देख कर मूलमें आई हुई प्रासंगिक वार्तोंका विशेष खुलासापूर्वक और उसके स्वरूपका बृहत् रूप बनाकर यह अनुवाद किया गया है। यद्यपि आत्मस्वरूप तथा कर्मके भङ्ग जालका याथातथ्य वर्णन करना विना अनुभव ज्ञानके हो नहीं सकता है, तथापि इस ग्रन्थानुवाद रूप शुभ कार्यमें 'शुभे यथाशक्ति यतनीयं' यह महान पुरुषोंके वाक्यका केवल पालन ही किया है।

आत्मा तथा कर्मकी विचित्र घटमालके कथक सहस्रावधि ग्रन्थोंको अवलोकन करनेवाला व्यक्ति सर्वज्ञोक्तिकी तुलना नहीं

कर सकता। सर्वज्ञ दशासें अर्वाक् दशामें विचरनेवाला प्राणिगण निज बोधमें षट् स्थानको स्पर्शता हुआ तारतम्यताको धारण करता है। एक ही पुस्तकको दश व्यक्ति पढ़ जायँ और दशों ही व्यक्तियोंका बोध विशेषज्ञ द्वारा अवलोकन किया जाय तो विशेष विशेषतर न्यून न्यूनतर ही भासेगा। चतुर्दश पूर्वधारकोंमें भी षट् स्थानका पतन होता है। जितना श्रुत ज्ञान है षट् स्थानका अविनाभावी है। जब तक क्षायिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक वस्तुके पूर्ण ज्ञानमें न्यूनता ही रहती है। चाहे कैसा ही क्षायोपशमिक ज्ञान क्यों न हो पर वह क्षायिक ज्ञानकी तुलना नहीं कर सकता। क्षायोपशमिक ज्ञानके अनेक प्रकार हैं, पर क्षायिक ज्ञानका एक ही प्रकार है। इस ज्ञानकी भिन्नतासे भी जीवात्मामें भेद पड़ सकता है और वह भेद संसारी और सिद्धके नामसें सुप्रसिद्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थमें यह क्षायिक ज्ञान बारहवें गुणस्थानके अंतमें जब आत्म गुण की सर्व घातिनी प्रकृतिका क्षय हो जाता है तब प्रगट होता है। यह क्षायिक ज्ञान निर्विवाद और निःशंक है। इस ज्ञानमें विवाद तथा शंकाका स्पर्श नहीं होता है। और क्षायोपशमिक ज्ञानमें विवाद तथा शंका शिर उठा सकती है। इस लिए क्षायोपशमिक ज्ञानवाले व्यक्तियोंको क्षायिक ज्ञानीके अनुयायी हो कर चलना पड़ता है। जिस क्षायोपशमिक व्यक्तिने क्षायिक ज्ञानीका अनादर किया है, वह व्यक्ति तत्व ज्ञानसें सदा सर्वदा वंचित ही रहती है। केवल ज्ञानीको छोड़कर सभी संसार क्षायोपशमिक ज्ञानसे आश्रित है। इस न्यायसे सिद्ध होता है कि श्रुत ज्ञान क्षायोपशमिक है। और ऐसा होनेसे न्यूनाधिक रूप तारतम्यता भी इसमें रहती है। वर्त्तमानकालीन जीवोंको श्रुत ज्ञान ही अतीव उपयोगी हो सकता है। यावत् धार्मिक व्यवहार श्रुत ज्ञानके ही आश्रित है। इस लिए विशेषज्ञ पूर्वर्षियोंने

आधुनिक भव्यात्माओंके उपकारार्थ भिन्न भिन्न प्रकारसे ग्रन्थोंको रच कर वीतराग वचनको सुबोध कर दिया है। समयकी निर्बलतासे जीवोंकी बुद्धिमें भी निर्बलता हो गई है। जिससे पूर्वर्षि प्रणीत संस्कृत प्राकृतबद्ध (वीतराग वचनदर्शक) ग्रन्थोंको अवलोकन नहीं कर सकते हैं और वीतराग तत्त्वसे अनभिज्ञ रहकर प्रभु मार्ग से पराङ्मुख हो जाते हैं। ऐसे जीवोंके सुबोधार्थ इस गुणस्थानक्रमारोहका कि जो ग्रन्थ पूर्वाचार्यने संस्कृतमें रचा है उसका हिन्दी अनुवाद करके जन समक्ष रखा गया है। यद्यपि यह गुणस्थानका विषय बहुत गहन है। आत्माका निज गुण प्राप्त करनेका क्रम विशेषज्ञ अथवा अनुभव ज्ञानीके विना अन्य साधारण व्यक्ति याथातथ्य प्रतिपादन नहीं कर सकता है। तथापि पूर्वाचार्यके मार्गमें रह कर उन्हींके ही शब्दोंको हिन्दी भाषामें परिवर्त्तन किये हैं। प्रसंगवश चार ध्यान, श्राद्धके द्वादश व्रत, क्षपक तथा उपशम श्रेणी इत्यादि बातोंका स्वरूप स्फुट करके दिखलाया गया है। यह भी मनःकल्पित नहीं किन्तु अन्य अन्य आचार्योंकी कृतिके अनुसार ही लिखा गया है। इस लिए वाचकवृंदसे सविनय प्रार्थना है कि इस गहन विषयको पढ़ते हूए इस अनुवादमें कुछ त्रुटी दृष्टिगोचर हो तो आप सुधार लेवें और अनुवादकको सूचित करें ताकि आगामी आवृत्तिमें उस त्रुटीको लक्ष्यमें रखकर मुद्रित किया जाय। अंतमें श्री वीतराग वचनसे एक अक्षर मात्र भी इस अनुवादमें विरोध आता हो तो उसके लिए मिथ्या दुष्कृत देता हूआ विराम लेता हूँ।

जैन शाला,
जामनगर.
१९७५-आषाढ सुदी
तृतीया-सोमवार.

मुनि कस्तूरविजय.
जैनभीक्षु.
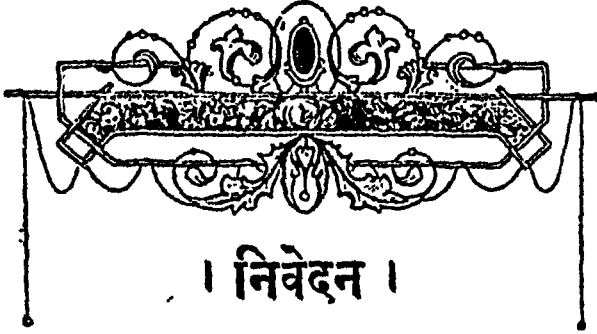
। निवेदन ।

पाठक महाशयों से निवेदन है कि यद्यपि मेरे आत्म बन्धु पूज्य श्रीमान् कस्तूर विजयजी महाराजने प्रस्तावना के आन्त में आप लोगोंको इस विषयमें सूचना की है, तथापि मैं पुनः इसके लिए आपसे अनुरोध करता हूँ कि इस ग्रन्थमें यदि कहीं पर आप लोगोंको भाषा या लिखने वा शोधनक्रिया संबन्धी मिस्टिक मालूम हो तो आप मुझे सूचित करें ताकि द्वितीयावृत्तिमें सुधारा हो सके। इस ग्रन्थकी लेखन तथा शोधन क्रिया मेरे ही हाथसे हुई है, अतएव आपसे यह निवेदन किया जाता है। इस ग्रन्थका अनुवाद मैंने जामनगर निवासी सुश्रावक जेठालाल त्रिकमलालकी प्रेर्णासे किया है अतः कृतकार्य होकर मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

मुनि तिलकविजय पं.

। प्रथम वाँचनीय विषय ।

कर्मकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियां ।

१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नामकर्म, ७ गोत्रकर्म, ८ अन्तराय ।

इन आठों ही मूल प्रकृतियोंका कार्य बतांते हैं,

ज्ञानावरणीय कर्मका कार्य ज्ञान गुणको दवानेका है। दर्शनावरणीय कर्मका कार्य दर्शन गुणको आच्छादन करनेका है। वेदनीय कर्मका कार्य आत्माको सांसारिक सुखं दुःखका अनुभव करानेका है । मोहनीय कर्मका कार्य आत्मीय चारित्र गुणको प्रगट न होने देनेका है। आयु कर्मका कार्य जीवात्माको संसारमें स्थिति करानेका है । नाम कर्मका कार्य जीवको अनेक प्रकारकी आकृतियां करानेका है। गोत्र कर्मका कार्य जीवको ऊंच नीच दशायें प्राप्त करानेका है। अन्तराय कर्मका कार्य आत्मीय अनन्त शक्तिको रुकावट करनेका है ।

उत्तर प्रकृतियां ।

ज्ञानावरणीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियें पाँच होती हैं, ज्ञानगुण के पाँच भेद होते हैं, मतिज्ञान, श्रतज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान, केवल ज्ञान, इस पूर्वोक्त पाँच प्रकारके ज्ञानगुणको आच्छादन करनेवाली–१ मतिज्ञानावरणीय, २ श्रुतज्ञानावरणीय, ३ अवधिज्ञानावरणीय, ४ मनःपर्यव ज्ञानावरणीय, तथा ५ केवल ज्ञानावरणीय । ये पाँच प्रकृतियां हैं ।

दर्शनगुणको दबानेवाली दर्शनावरणीय कर्मकी नव प्रकृतियां हैं, सो नीचे लिखे मुजब समझना.

१ चक्षु दर्शनावरणीय, २ अचक्षु दर्शनावरणीय, ३ अवधि दर्शनावरणीय, ४ केवल दर्शनावरणीय, ५ निद्रा, ६ निद्रानिद्रा ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला, ९ स्त्यानर्धि।

वेदनीयकर्मकी उत्तर प्रकृतियां.

१ सातावेदनीय और २ असातावेदनीय।

मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियां.

१ सम्यत्त्व मोहनीय, २ मिश्र मोहनीय, ३ मिथ्यात्व मोहनीय, ४ अनन्तानुवन्धि क्रोध, ५ अनन्तानुवन्धि मान, ६ अनन्तानुवन्धि माया, ७ अनन्तानुवन्धि लोभ, ८ अप्रत्याख्यानीय क्रोध, ९ अप्रत्याख्यानीय मान, १० अप्रत्याख्यानीय माया, ११ अप्रत्याख्यानीय लोभ, १२ प्रत्याख्यानीय क्रोध, १३ प्रत्याख्यानीय मान, १४ प्रत्याख्यानीय माया, १५ प्रत्याख्यानीय लोभ, १६ संज्वलनीय क्रोध, १७ संज्वलनीय मान, १८ संज्वलनीय माया, १९ संज्वलनीय लोभ, २० हास्य, २१ रति, २२ अरति, २३ भय, २४ शोक, २५ दुगंच्छा, २६ स्त्रीवेद, २७ पुरुषवेद, २८ नपुंसक वेद: ये अठाईस उत्तर प्रकृतियां मोहनीय कर्मकी समझना।

आयुकर्मकी उत्तर प्रकृतियां.

१ देवायु, २ मनुष्यायु, ३ तिर्यंचायु और ४ नरकायु.

नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियां.

१ देवगति, २ मनुष्यगति, ३ तिर्यंचगति, ४ नरकगति, ५ एकेंन्द्रियजाति, ६ द्वीन्द्रियजाति, ७ त्रीन्द्रियजाति, ८ चतुरिन्द्रियजाति, ९ पंचेन्द्रियजाति, १० औदारिक शरीर, ११ वैक्रिय शरीर, १२ आहारक शरीर, १३ तैजस शरीर, १४ कार्मण शरीर, १५ औदारिक अंगोपांग, १६ वैक्रिय अंगोपांग, १७ आहारक

अंगोपांग, १८ औदारिक बन्धन, १९ वैक्रिय बन्धन, २० आहारक बन्धन, २१ तैजस बन्धन, २२ कार्मण बन्धन, २३ औदारिक संघातन, २४ वैक्रिय संघातन, २५ आहारक संघातन, २६ तैजस संघातन, २७ कार्मण संघातन, २८ वज्र ऋषभनाराच संहनन, २९ ऋषभनाराच संहनन, ३० नाराच संहनन, ३१ अर्धनाराच संहनन, ३२ कीलिका संहनन, ३३ सेवार्त्त (छेवटा) संहनन, ३४ समचौरस संस्थान, ३५ न्यग्रोध संस्थान, ३६ सादि संस्थान, ३७ कुब्ज संस्थान, ३८ वामन संस्थान, ३९ हुण्डक संस्थान, ४० कृष्णवर्ण, ४१ नीलवर्ण, ४२ रक्तवर्ण, ४३ पीतवर्ण, ४४ श्वेतवर्ण, ४५ सुरभिगन्ध, ४६ दुरभिगन्ध, ४७ तिक्तरस, ४८ कटुरस, ४९ कषायलारस, ५० आम्लरस, ५१ मधुर रस, ५२ गुरुस्पर्श, ५३ लघुस्पर्श, ५४ मृदुस्पर्श, ५५ कठोरस्पर्श, ५६ शीत स्पर्श, ५७ उष्ण स्पर्श, ५८ स्निग्ध स्पर्श, ५९ रुक्षस्पर्श, ६० देवानुपूर्वी, ६१ मनुष्यानुपूर्वी, ६२ तिर्यंचानुपूर्वी ६३ नरकानुपूर्वी, ६४ शुभ विहायोगति, ६५ अशुभ विहायोगति, ६६ पराघातनाम, ६७ श्वासोच्छ्वासनाम, ६८ आतापनाम, ६९ उद्योत नाम, ७० अगुरुलघु नाम, ७१ तीर्थंकरनाम, ७२ निर्माणनाम, उपघातनाम, ७४ त्रसनाम, ७५ वादरनाम, ७६ पर्याप्तनाम, ७७ प्रत्येकनाम, ७८ स्थिरनाम, ७९ शुभनाम, ८० सौभाग्यनाम, ८१ सुस्वरनाम, ८२ आदेयनाम, ८३ यशःकीर्तिनाम, ८४ स्थावरनाम, ८५ सूक्ष्मनाम, ८६ अपर्याप्तनाम, ८७ साधारणनाम, ८८ अस्थिरनाम, ८९ अशुभनाम, ९० दुर्भाग्यनाम, ९१ दुःस्वरनाम, ९२ अनादेयनाम, ९३ अपयशनाम ।

गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियां.

१ उच्चगोत्र तथा २ नीचगोत्र ।

अन्तरायकर्मकी उत्तर प्रकृतियां.

१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

ये पूर्वोक्त कर्मोंकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियां आत्माके साथ अनादिकालसे संबन्ध रखती हैं। जब आत्माका मोक्षगमन निकट होता है तब पूर्वोक्त आठोंही कर्मोंमेंसे प्रथम मोहनीयकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंको जीव क्रमसे नष्ट करता है।

पूर्वोक्त आठों ही कर्मकी प्रकृतियोंमेंसे जिस गुणस्थानमें जीव जितनी प्रकृतियोंको बाँधता है, जितनी वेदता है और जितनी सत्तामें रखता है, इस विषयका खुलासा संक्षेपसे आपको प्रतिगुणस्थान मिलता जायगा।

॥ ॐकाराय नमः ॥

॥ गुणस्थानक्रमारोह ॥
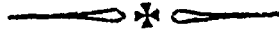
गुणस्थानक्रमारोह,-हतमोहं जिनेश्वरम् ।
नमस्कृत्य गुणस्थानस्वरूपं किञ्चिदुच्यते ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—गुणस्थानके क्रमसे आरोहणद्वारा नष्ट किया है मोहको जिसने ऐसे जिनेश्वरदेवको नमस्कार करके गुणस्थानोंका किंचिन्मात्र स्वरूप कथन करते हैं ॥

व्याख्या—जो गुण पूर्वकालमें कभी न प्राप्त हुआ हो उस गुणका जो आविर्भाव है उसे गुण कहते हैं और उस गुणकी स्थिति जिस परिणतिमें हो उसे गुणस्थान कहते हैं। जिन गुणस्थानोंको क्रमसे प्राप्त करता हुआ जीव संसारसे मुक्त होता है, वे गुणोंके स्थान शास्त्रकारोंने चौदह फरमाये हैं, उन्हीं चतुर्दशगुणस्थानोंका यहाँपर संक्षेपसे स्वरूप कथन कियाजाता है। प्रथमसे लेकर अन्ततक जो गुणस्थानोंका क्रम हैं उस क्रमसे क्षपकश्रेणीको प्राप्त करके मोहनीयकर्मको नष्ट करनेवाले, क्योंकि क्षपकश्रेणीको आरोहण करनेसेही मोहनीयकर्म नष्ट होता है अन्यथा नहीं, शास्त्रमें फरमाया है कि अनन्तानुवन्धिकषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय वाद अष्ट कषायोंको नष्ट करता है (जिनका स्वरूप हम आगे लिखेंगे) वाद क्रमसे नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि षट्क (हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगंच्छा) पुरुषवेद तथा संज्वलनके चारों कषाय, इन पूर्वोक्त मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंको सत्तामेंसे नष्ट करनेपर वीतरागपनेको प्राप्त करता है। साथमें इत-

नाभी समझ लेनाकि केवल मोहनीयकर्मकेही नष्ट होनेसें जिनेश्वरत्वपद प्राप्त नहीं होता किन्तु साथही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, और अन्तराय, इन चारोंही कर्मका नाश होनेपर जिनेश्वरपद प्राप्त होता है। मूल श्लोकमें हतमोह कहनेसे शास्त्रकारने आठोंही कर्मके अन्दर मोहनीयकर्मकी प्रधानता बताई है। जैसे इन्द्रियोंमें रसनाइन्द्रिय, व्रतोंमें ब्रह्मचर्यव्रत और गुप्तियोंमें मनोगुप्ती दुर्जय है वैसेही आठों कर्मके अन्दर मोहनीयकर्म दुर्जय है, अत एव इस कर्मकी प्रवलतासूचन करनेके लिएही हतमोह विशेषण दिया है। मोहनीयकर्मके नष्ट होनेपर शेष कर्म सुखपूर्वक नष्ट हो सकते हैं। जिस प्रकार तालवृक्षका ऊपरि भाग छेदन करनेसे स्वयमेवही वह नष्ट हो जाता है वैसेही मोहनीयकर्मके नष्ट होनेपर बाकीके घाति अघातिकर्म अवश्यमेव नष्ट हो जाते हैं। अतः हतमोह जिनेश्वरदेवको नमस्कार करके संक्षेपसे कुछ गुणस्थानोंका स्वरूप कथन करते हैं॥

प्रथम चार श्लोकोंद्वारा चतुर्दशगुणस्थानोंके नाम बताते हैं॥

चतुर्दशगुणश्रेणिस्थानकानि तदादिमम्।
मिथ्यात्वाख्यं द्वितीयं तु स्थानं सास्वादनाभिधम्॥२॥
तृतीयं मिश्रकं तुर्यं सम्यग्दर्शनमव्रतम्।
श्राद्धत्वं पञ्चमं षष्ठं प्रमत्तश्रमणाभिधम्॥ ३॥
सप्तमं त्वप्रमत्तं चापूर्वात्करणमष्टमम्।
नवमं चानिवृत्त्याख्यं दशमं सूक्ष्मलोभकम्॥ ४॥
एकादशं शान्तमोहं द्वादशं क्षीणमोहकम्।
त्रयोदशं सयोग्याख्यमयोग्याख्यं चतुर्दशम्॥ ५॥

श्लोकार्थ—चतुर्दश गुणस्थानक हैं जिसमें प्रथम मिथ्यात्व ना-

मक, दूसरा सास्वादन नामक, तीसरा मिश्र नामा, चतुर्थ अव्रतसम्यग्दृष्टि, पंचम श्राद्धत्व, षष्ठम प्रमत्तश्रमण नामक, सप्तम अप्रमत्त नामा, अष्टम अपूर्वकरण नामा, नवम अनिवृत्ति नामा, दशम सूक्ष्मलोभ अथवा सूक्ष्मसंपराय, एकादश शान्तमोह नामा, द्वादशम क्षीणमोह नामक, त्रयोदश सयोगि और चतुर्दश अयोगि नामक गुणस्थान है।

व्याख्या—चतुर्दश गुणस्थानोंके नाम जो ऊपर कथन किये गये हैं उन्हीं गुणस्थानोंका स्वरूप क्रमसे आगे चलकर कथन किया जायगा। यों तो अनन्त गुणोंका स्थानभूत आत्मा है, क्योंकि उसमें समय समय परिणतिका परिवर्तन होता रहता है। उसमें भी दो प्रकार हैं, एक अशुभपरिणति और दूसरी शुभपरिणति। जिस अध्यवसायके द्वारा आत्माको आघात पहुँचता है उसे अशुभपरिणति कहते हैं और जिस अध्यवसायके द्वारा आत्मीय शुद्ध स्वभाव प्राप्त होवे उसे शुभ परिणति कहते हैं। वस इस परिणतिकाही नाम गुणस्थान है। जितनी देर आत्मा उस शुभपरिणतिमें ठहरे उतनी देर तक वह आत्माके लिए गुणका स्थान है। इस प्रकारके गुणोंके स्थान तो आत्माके अन्दर अनेकानेक भरे हुवे हैं तथापि जिन गुणस्थानोंको क्रमसे उत्तरोत्तर प्राप्त करके आत्मा सिद्धिगतिको प्राप्त करती है वे गुणस्थान शास्त्रकारोंने चतुर्दश फरमाये हैं, इस लिए उन चतुर्दशही गुणस्थानोंका यहाँपर स्वरूप कथन किया जाता है॥

अब प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थानका स्वरूप लिखते हैं॥

अदेवागुर्वधर्मेषु, या देवगुरुधर्मधीः।
तन्मिथ्यात्वं भवेद्व्यक्तमव्यक्तं मोहलक्षणम्॥६॥

श्लोकार्थ—अदेव, अगुरु, अधर्ममें जो देव, गुरु, धर्मकी बु-

द्धि है उसे व्यक्त मिथ्यात्व कहते हैं और मोह लक्षणरूप अव्यक्तमिथ्यात्व होता है।

व्याख्या—संज्ञीपंचेन्द्रियजीवोंमें जो अदेव, अगुरु, अधर्मके अन्दर क्रमसे देव गुरु धर्मका विश्वास है उसे व्यक्तमिथ्यात्व कहते हैं। उपलक्षणसे यह भी समझ लेना कि जीवाजीवादि नव पदार्थोंके विषयमें अश्रद्धा, अर्थात् विपरीत बुद्धि या उन पदार्थोंकी विपरीत प्ररूपणा, संशयकरणरूप जो मिथ्यात्व है, वह पांच प्रकारका होता है। १ अभिग्रहिक २ अनाभिग्रहिक ३ अभिनिवेशिक ४ सांशयिक और ५ अनाभोगिक। इस तरह पांच प्रकारका मिथ्यात्व होता है। तथा जो दश प्रकारका मिथ्यात्व कहा है वह इस तरह समझना—१ अधर्ममें धर्मसंज्ञा २ धर्ममें अधर्मसंज्ञा ३ उन्मार्गमें सन्मार्गसंज्ञा ४ सन्मार्गमें उन्मार्गसंज्ञा ५ जीवमें अजीवसंज्ञा ६ अजीवमें जीवसंज्ञा ७ असाधुओंमें साधुसंज्ञा ८ साधुओंमें असाधुसंज्ञा ९ अमूर्त्तपदार्थोंमें मूर्त्तसंज्ञा और १० मूर्त्तपदार्थोंमें अमूर्त्तसंज्ञा। यह दश प्रकारका मिथ्यात्व होता है॥

मिथ्यात्वको गुणस्थान क्यों कहा? इसका हेतु बताते हैं॥

अनाद्यव्यक्तमिथ्यात्वं, जीवेस्त्येव सदापरम्।
व्यक्तमिथ्यात्वधीप्राप्ति–र्गुणस्थानतयोच्यते॥ ७॥

श्लोकार्थ—जीवमें अनादि अव्यक्तमिथ्यात्व है परन्तु व्यक्तमिथ्यात्वबुद्धिकी प्राप्तिको गुणस्थान कहते हैं।

व्याख्या—अनादि कालसे अव्यवहारराशिमें सदैव अव्यक्तमिथ्यात्व रहता है तथा व्यवहारराशिमें भी एकेन्द्रियादि जीवोंमें अव्यक्तमिथ्यात्वही है। किन्तु व्यक्तमिथ्यात्व बुद्धिकी जो प्राप्ति होती है उसीको गुणस्थानतया कथन करते हैं। पूर्वमें जो पांच प्रकार तथा दश प्रकारका मिथ्यात्व बताया है। उसे व्यक्त-

मिथ्यात्व समझना और उस व्यक्तमिथ्यात्वगतजीवोंको प्रथम गु-णस्थानवर्ती समझना । यह व्यक्तमिथ्यात्व केवल व्यवहारराशिवा-ले जीवोंमेंही होता है। इससे विपरीत जो अनादि कालसे सद्दर्श-नरूपात्मगुणको आच्छादन करनेवाला और जो सदाकाल अविना-भाव सम्बन्धसे जीवके साथ रहता है वह अव्यक्तमिथ्यात्व कहा-जाता है और वह अव्यवहारराशिवाले जीवोंमें होता है। अव्य-क्तमिथ्यात्व वंजर भूमिके समान होता है और व्यक्तमिथ्यात्व जोतीहुई भूमिके समान होता है ॥ मिथ्यात्वगत प्राणी किस प्र-कार धर्माधर्मको नहीं जान सकता सो कहते हैं ॥

मद्यमोहाद्यथाजीवो, न जानाति हिताहितम् ।
धर्माधर्मौ न जानाति, तथा मिथ्यात्वमोहितः ॥८॥

श्लोकार्थ—जिस तरह मदिराके नसेसे मनुष्य अपने हिता-हितको नहीं जानता, वैसेही मिथ्यात्वमोहित प्राणीभी धर्माधर्मको नहीं जानता ॥

व्याख्या—जैसे मनुष्यादि प्राणी मदिरासे उन्मत्त होकर अपने हिताहितको नहीं जानता वैसेही मिथ्यात्वमोहित प्राणीभी अज्ञानवशतः नष्ट चैतन्यके समान धर्माधर्मको नहीं जानता । शास्त्र-में कहाभी है—मिथ्यात्वालीढ चित्ता नितान्तं तत्वं जानते नैव जीवाः । किं जात्यन्धाः कुत्रचिद्वस्तुजाते, रम्यारम्यव्यक्तिमासाद-येयुः ॥ १ ॥ अर्थात् मिथ्यात्वमें आसक्त चित्तवाले प्राणी तत्वको उसी प्रकार नहीं जानते जैसे जन्मान्ध प्राणी वस्तु समूहकी रम्या-रम्य व्यक्तिको नहीं जान सकते । मिथ्यात्वका नसा प्राणीको म-दिरासेभी गहन चढ़ता है, क्योंकि मदिराका नसा तो जीवको कुछ थोड़ी देरही पागलपनेमें रखता है, फिर उसे होस आजाता है प-रन्तु मिथ्यात्वरूप मदिराका नसा तो ऐसा गहन है कि जिस प्राणी-

पर इसका कैफ चढ़ता है उसे अनन्ते भवोंतक भी होस नहीं लेने देता। जिस प्रकार मदिरापान करनेवाले मनुष्य मदिराके नसेसे बेभान होकर गन्दीमोरियें आदि स्थानोंमें मुँह गाड़कर पड़े रहते हैं, उस समय विवेकी मनुष्योंके हृदयमें उनकी करुणामयी दशा देखकर दया संचार होता है। उसी तरह मिथ्यात्वमोहित प्राणियोंकोभी नीचादि गतियोंमें अनेक प्रकारकी विचित्र दशाओंको धारण करते देखकर उनके ऊपर करुणाभाव धारण करना चाहिये

अब मिथ्यात्वकी स्थिति बताते हैं—

अभव्याश्रितमिथ्यात्वेऽनाद्यनन्तास्थितिर्भवेत् ।
साभव्याश्रितमिथ्यात्वेऽनादिसान्तापुनर्मता ॥९॥

श्लोकार्थ—अभव्याश्रितमिथ्यात्वमें अनादि अनन्त स्थिति है और भव्याश्रितमिथ्यात्वमें अनादि सान्त मानी है ॥

व्याख्या—अभव्यजीवों आश्रित सामान्यसे अव्यक्तमिथ्यात्वकी स्थिति अनादि अनन्त है और भव्यजीवोंके आश्रित अनादि सान्त है। यह मिथ्यात्वकी स्थिति सामान्यसे कथन की है, यदि मिथ्यात्व गुणस्थानकी अपेक्षा विचारें तो अभव्यजीवोंमें मिथ्यात्वकी स्थिति सादि अनन्त है और भव्यजीवोंके अन्दर सादि सान्त है। मिथ्यात्वगुणस्थानमें रहा हुआ जीव एकसौ वीस बन्धप्रायोग्य कर्म प्रकृतियों में से तीर्थंकर नामकर्म तथा आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग) इन तीन प्रकृतियोंको वर्ज कर एकसौसतरह प्रकृतियोंको बाँधता है, क्योंकि तीर्थंकरनामकर्म विना सम्यक्त के नहीं बन्ध सकता। आहारकद्विकभी सर्व विरति विना नहीं बन्ध सकता, इस लिए इन तीन कर्म प्रकृतियोंको बन्धमेंसे निकाल दिया है। एक सौ बाईस उदयप्रायोग्य कर्म प्रकृतियोंमें से मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक तथा

तीर्थंकरनामकर्म, इन पाँचों प्रकृतियोंका उदयाभाव होनेसे एकसौ सत्रह कर्म प्रकृतियोंको वेदता है। आठोंहीकर्मकी एकसौअड़तालीस उत्तर प्रकृतियाँ सत्तामें रहती हैं ॥

॥ प्रथम गुणस्थान समाप्त ॥

अब दूसरे सास्वादन गुणस्थानको कथन करते हुए औपशमिक सम्यत्त्वका स्वरूप लिखते हैं—

अनादिकालसंभूत–मिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
स्यादौपशमिकं नाम, जीवे सम्यत्त्वमादितः ॥१०॥

श्लोकार्थ—अनादिकालजन्य मिथ्यात्व कर्मको उपशान्ति होनेसे जीवके अन्दर प्रथम औपशमिक सम्यत्त्व होता है ॥

व्याख्या—भव्यजीवके अन्दर अनादिकालसे रहा हुआ जो मिथ्यात्वकर्म है उस मिथ्यात्वकर्मके उपशान्त होजानेसे जीवको औपशमिकसम्यत्त्व होता है। अर्थात् ग्रन्थीभेदन करनेके समयसे लेकर प्रथम जीवको औपशमिक नामक सम्यत्त्व होता है। यह सामान्यार्थ हुआ, विशेषार्थ—औपशमिकसम्यत्त्व दो प्रकारका होता है, एकतो अन्तरकरणऔपशमिक और दूसरा स्वश्रेणीगतऔपशमिक सम्यत्त्व। अन्तरंकरणऔपशमिक सम्यत्त्व अपूर्वकरणके द्वारा ग्रंथीभेदन करके और त्रिपुंजको न करके याने मिथ्यात्व कर्मपुद्गलराशिके अशुद्ध, अर्धशुद्ध तथा शुद्ध, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यत्त्वरूप त्रिपुंज न करके तथा उदीर्णमिथ्यात्वको क्षय करनेपर और अनुदीर्णको उपशमा कर जो अन्तरकरणसे मुहूर्त्तमात्र काल जाता है वह सर्वथा मिथ्यात्वका अवेदन समय है, उस अन्तरमुहूर्त्तमात्र कालमें ही जीवको अन्तरकरणऔपशमिक सम्यत्त्व होता है। यह अन्तरकरणऔपशमिक सम्यत्त्व जीवको एक दफाही होता है।

अब रहा स्वश्रेणीगत, सो जीस जीवने उपशम गुण श्रेणी प्राप्त की है उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धियोंके उपशमित होजानेपर वह सम्यत्तव प्राप्त होता है। अन्तरकरण और स्वश्रेणीगत यह दो प्रकारका औपशमिक सम्यक्त्व सास्वादन नामक दूसरे गुणस्थानका मूल कारण समझना चाहिये ॥

अव सास्वादन गुणस्थानका स्वरूप दो श्लोकोंद्वारा कथन करते हैं—

एकस्मिन्नुदिते मध्याच्छान्तानन्तानुबन्धिनाम् ।
आद्योपशमिकसम्यक्त्वशैलमौलेः परिच्युतः ॥११॥
समयादावलीषट्कं, यावन्मिथ्यात्वभूतलम् ।
नासादयति जीवोयं, तावत्सास्वादनो भवेत् ॥१२॥
॥ युग्मम् ॥

श्लोकार्थ—शान्त हुए हुए अनन्तानुवन्धियोंमें से एकका भी उदय होनेपर प्रथम औपशमिकसम्यक्त्वरूप पर्वतके शिखरसे यह जीव पतित हो जाता है।। एक समयसे लेकर छः आवली पर्यन्त जब तक मिथ्यात्वभूतलको प्राप्त न करे तव तक सास्वादन गुण-स्थान होता है।

व्याख्या—औपशमिकसम्यक्त्वको वमन करता हुआ जीव शान्त किये हुए अनन्तानुवन्धिकषायोंमें से एकका भी उदय भाव होनेसे प्रथम औपशमिकसम्यक्त्वरूप पर्वतसे नीचे गिरता है। गिरते समय कालसे लेकर छः आवलीकाल पर्यन्त यावन्मिथ्यात्व गुण-स्थानको प्राप्त करते समय तक जो मध्यका समय है वह सास्वा-दन गुणस्थानका समय समझना चाहिये। यहाँपर कोई मनुष्य यह प्रश्न कर सकता है कि व्यक्तमिथ्यात्वबुद्धिकी प्राप्तिरूप प्रथम गुण-

स्थान तथा मिश्रादि गुणस्थानोंको उत्तरोत्तर आरोहणका कारण-भूत होनेसे गुणस्थानपना सिद्ध हो सकता है, किन्तु पतनरूप जो दूसरा सास्वादन नामक गुणस्थान है, उसे गुणस्थानकत्व किस तरह सिद्ध हो सकता है?, इसके उत्तरमें शास्त्रकार फरमाते हैं, कि मिथ्यात्व-गुणस्थानकी अपेक्षा सास्वादन गुणस्थान भी उच्चारोहणपदवाला है, क्योंकि मिथ्यात्वगुणस्थान तो अभव्यजीवोंमें भी होता है, परन्तु सास्वादन गुणस्थान तो भव्यजीवोंको ही प्राप्त होता है। उसमेंभी उन्हीं भव्यजीवोंको सास्वादन गुणस्थान प्राप्त होता है जिनका अर्धपुद्गलपरावर्त शेष संसार रहा हो। कहा भी है कि अन्तर्मुहू-र्त्तमात्रमपि स्पृष्टं भवेद्यैः सम्यक्त्वम्। तेषामपार्द्धपुद्गलपरावर्त एव संसारः ॥ १ ॥ अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त मात्रकाल पर्यन्त जिन जीवोंने सम्यक्त्वको स्पर्श कर लिया है, उनका अर्धपुद्गल परावर्त ही शेष सं-सार रहा है अधिक नहीं, उतने काल बाद वे जीव अवश्य मोक्ष पदको प्राप्त करतेहैं। इस लिए सास्वादन गुणस्थानको भी गुणस्थान-कत्व सिद्ध होता है। सास्वादन गुणस्थानमें रहा हुआ जीव मि-थ्यात्व, नरकत्रिक (नरक गति १ नरकका आयु २ नरककी अ-नुपूर्वी ३) एक इन्द्रियादि जाति चतुष्क, (एक इन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रियतक) स्थावर चतुष्क. (१ स्थावरनामकर्म, २ सूक्ष्मनाम कर्म ३ अपर्याप्तनामकर्म ४ साधारणनामकर्म) आतापनामकर्म, अन्तिम संस्थान, अन्तिम संघयण नपुंसकवेद। एवं इन सोलह कर्मप्रकृ-तियोंके बन्धका अभाव होनेसे एकसौ एक कर्मप्रकृतियां बाँधता है। सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्तनामकर्म, साधारणनामकर्म, आताप-नामकर्म, मिथ्यात्वमोहनीय और नरकानुपूर्वी, इन छःप्रकृ-तियोंके उदयका अभाव होनेसे एकसौ ग्यारह कर्मप्रकृतियोंको वेदता है। इस गुणस्थानमें एकसौअड़तालीस कर्म प्रकृतियों-

मेंसे एक तीर्थंकरनामकर्मको वर्जकर बाकी की एकसौ-छहतालीस कर्म प्रकृतियां सत्तामें स्थित रहती हैं ॥

॥ दूसरा गुणस्थान समाप्त ॥

अब तीसरे मिश्र गुणस्थानका स्वरूप लिखते हैं—

मिश्रकर्मोदयाज्जीवे, सम्यग्मिथ्यात्वमिश्रितः ।
यो भावोन्तर्मुहूर्त्तं स्यात्तन्मिश्रस्थानमुच्यते ॥१३॥

श्लोकार्थ—मिश्रकर्मके उदयसे जीवके अन्दर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मिश्रित जो अन्तरमुहूर्त्त भाव रहता है उसे मिश्रगुणस्थान कहते हैं ॥

व्याख्या—मोहनीयकर्मकी द्वितीय प्रकृतिरूप दर्शनमोहनीय मिश्रकर्मके उदयसे जीवके अन्दर जो समकाल है, याने सम्यक्त्व और मिथ्यात्वमें समानताजन्य अन्तरमुहूर्त्त जो मिश्रित भाव है, उसे मिश्रिगुणस्थान कहते हैं। सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके परस्पर मिलजानेपर जो जात्यन्तर भाव उत्पन्न होता है, उसेही मिश्र कहते हैं ॥

इसी वातको पुष्ट करनेके लिए शास्त्रकार स्वयमेव दोश्लोकों द्वारा दृष्टान्त फरमाते हैं—

जात्यन्तरसमुद्भूति, र्वडवाखरयोर्यथा ।
गुडदध्नोः समायोगे, रसभेदान्तरं यथा ॥ १४ ॥
तथा धर्मद्वये श्रद्धा, जायते समबुद्धितः ।
मिश्रोसौ भण्यते तस्माद्भावोजात्यन्तरात्मकः॥१५॥

श्लोकार्थ–जिस प्रकार घोड़ी और गधेका संयोग होनेपर जात्यन्तर (खच्चर) उत्पन्न होता है, तथा गुड़ और दहीके संयोगसे जैसे अन्य ही रसान्तर पैदा होजाता है, वैसे ही मिथ्यात्व

और सम्यक्त्वके मिलजानेसे एक जुदा ही भावान्तर उत्पन्न होजाता है, और उसे ही मिश्रगुणस्थान कहते हैं ॥

मिश्रगुणस्थानमें रहा हुआ जीव जो काम नहीं करता सो कहते हैं—

आयुर्बध्नाति नोजीवो, मिश्रस्थो म्रियते न वा ।
सद्दृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा, भूत्वा मरणमश्नुते ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—मिश्रगुणस्थानस्थजीव आयुका बन्ध नहीं करता और ना ही काल करता, सम्यक्त्व प्राप्तकरके या मिथ्यात्व प्राप्त करके काल करता है ॥

व्याख्या—मिश्रगुणस्थानमें रहा हुआ प्राणी परभवसंबन्धि आयु नहीं बाँध सकता और ना ही मिश्रमें काल करता। किन्तु सम्यग्दृष्टी होकर या मिथ्यादृष्टी होकर ही काल धर्मको प्राप्त होता है। अर्थात् पूर्व अवस्था में यदि मिथ्यात्वमें रहकर आयु बाँधा हो तो मिथ्यादृष्टी होकर और यदि सम्यक्त्वमें स्थितरह कर आयु बाँधा हो तो सम्यग्दृष्टी होकर मृत्युको प्राप्त होता है। मिश्रगुणस्थानके समानही क्षीणमोह बारहवें तथा सयोगिकेवलि तेरहवें गुणस्थानमें भी जीव काल नहीं करता। जिन जिन गुणस्थानों में जीव काल करता है और जिन गुणस्थानोंको परभवमें साथ लेजाता है, उन्हें नामपूर्वक कहते हैं। १ मिथ्यात्व २ सास्वादन ४ अविरति ५ देशविरति ६ प्रमत्तश्रमण ७ अप्रमत्त ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिबादर १० सूक्ष्मसंपराय ११ उपशान्तमोह १४ अयोगिकेवलि। इन ग्यारह गुणस्थानों में जीव काल करता है, अर्थात् इन पूर्वोक्त ग्यारह गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थानमें स्थित होकर काल करता है। मिथ्यात्वगुणस्थान, सास्वादन गुणस्थान तथा

अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, ये तीन गुणस्थान जीवके साथ परभवमें जाते हैं, याने इन तीनों गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थानको साथ लेकर जीव परभवमें जाता है।

अब मिश्रगुणस्थानी जीवकी गति तथा मृत्यु कहते हैं-

सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये, आयुर्येनार्जितं पुरा।
म्रियते तेन भावेन, गतिं याति तदाश्रिताम्॥१७॥

श्लोकार्थ-सम्यत्तव और मिथ्यात्वके मध्यमें जिस जीवने प्रथम आयु बाँध लिया हो वह जीव उसी भावसे मृत्युको प्राप्त होता है और तदाश्रितगतिमें ही जाता है॥

व्याख्या-जिस जीवने मिश्रगुणस्थानकी अवस्थासे प्रथम ही सम्यत्तव या मिथ्यात्वके बीचमें परभवका आयु बाँध लिया है, वह जीव मिश्रगुणस्थानको प्राप्त करके भी उस पहले ही भावसे मृत्युको प्राप्त होता है जिसमें उसने प्रथम आयुकर्मका बन्ध किया हो। जिस भावमें आयुका बन्ध किया हो मरकर उसीभाव आश्रित गतिको प्राप्त करता है। मिश्रगुणस्थानमें रहा हुआ जीव तिर्यंचकी गति, तिर्यंचका आयु और तिर्यंचकी अनुपूर्वी, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला और स्त्यानर्द्धि, दुर्भगनामकर्म, दुःस्वरनामकर्म, अनादेयनामकर्म, अनन्तानुबन्धि क्रोध-मान-माया-लोभ, न्यग्रोधसंस्थान, सादिसंस्थान, वामनसंस्थान, तथा कुब्जसंस्थान, ये चार मध्यसंस्थान, ऋषभनाराचसंघयण, नाराचसंघयण, अर्द्धनाराचसंघयण तथा कीलिकासंघयण, नीचगोत्रनाम कर्म, उद्योतनामकर्म, अप्रशस्तविहायोगति और स्त्रीवेद। इनपूर्वोक्त २५ पचीसकर्म प्रकृतियोंके बन्धका निरोध करता है। तथा इस गुणस्थानमें मनुष्य और देवसंबन्धि आयुभी नहीं बाँधता, अतः केवल ७४ चुहत्तर कर्म

प्रकृतियोंका ही बन्ध करता है। इस गुणस्थानमें चार अनन्तानुबन्धिकषाय, स्थावरनाम कर्म, एकेन्द्रियनाम कर्म, विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय) तथा मनुष्य और तिर्यंच संबन्धि अनुपूर्वी, इनपूर्वोक्त कर्मप्रकृतियोंका उदयभाव न होनेसे तथा मिश्रका उदय होनेसे १०० एकसौ कर्मप्रकृतियोंको वेदता है और इस गुणस्थानके स्वामीकी सत्तामें १४७ एकसौ सैंतालीस कर्मप्रकृतियां रहती हैं ॥

॥ तीसरा गुणस्थान समाप्त ॥

अब चतुर्थ गुणस्थानका स्वरूप लिखते हैं। चतुर्थ गुणस्थानका स्वामी सम्यग्दृष्टी ही होता है, इस लिए सम्यक्त्व किस तरह प्राप्त होता है ? शास्त्रकार प्रथम इस बातको बताते हैं—

यथोक्तेषु च तत्त्वेषु, रुचिर्जीवस्य जायते ।
निसर्गादुपदेशाद्वा, सम्यक्त्वं हि तदुच्यते ॥१८॥

श्लोकार्थ—यथोक्त तत्त्वोंमें जीवकी स्वभावसे या उपदेशद्वारा जो रुचि होती है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं ॥

व्याख्या—मनवाले भव्य पंचेन्द्रिय जीवको निसर्ग से, याने पूर्वभव जनितअभ्यास विशेष से प्राप्त की हुई जो आत्मनिर्मलता है, उसके स्वभावसे या सद्गुरुउपदिष्टशास्त्रश्रवणद्वारा सर्वज्ञदेवप्रणीत जीवाजीवादि तत्वोंके अन्दर जो रुचि-श्रद्धा होती है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं। शास्त्रमें कहा भी है—रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते। जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा ॥ १ ॥

अर्थ—जिनेश्वर देवके कथन किये हुए तत्वों में जो रुचि होती है उसे ही सम्यक् श्रद्धान कहते हैं और वह दो प्रकारसे

प्राप्त हो सकती है। एक तो स्वभावसे और दूसरे गुरु आदिके उपदेशद्वारा।

अब अविरति सम्यग्दृष्टिपनेको कथन कहते हैं—

द्वितीयानां कषायाणामुदयाद्व्रतवर्जितम् ।
सम्यक्त्वं केवलं यत्र तच्चतुर्थं गुणास्पदम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—दूसरे कषायोंके उदय होने से व्रतवर्जित केवल सम्यक्त्वमात्र ही जहाँपर होता है, उसे चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं॥

व्याख्या—प्रथमकी अनन्तानुबन्धि चौकड़ीको वर्जकर दूसरे भेदवाले अप्रत्याख्यानीय क्रोध–मान–माया–लोभरूप कषायों के उदय होनेसे व्रत नियम रहित केवल सम्यक्त्वमात्र ही जहाँपर होता है, उसे चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं। अर्थात् जिसमें नियम उदय नहीं आता और केवल सम्यक्त्वमात्र ही होता है, उसे अविरति सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थानमें व्रत प्रत्याख्यान क्यों नहीं उदय आता? इस बातको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जिसप्रकार कोई एक मनुष्य न्यायोत्पन्न संपदायुक्त श्रेष्ठ भोगकुलमें पैदा होकर भी द्यूतादि व्यसनों से दूषित है। एक दिन उस आदमीसे व्यसनी होनेके कारण कुछ अपराध हो गया। अपराध जाहिर होनेसे राजकीयपुरुष कोतवाल वगैरह लोगोंने उसे पकड़लिया। अब वह कोतवाल लोगोंके हाथमें आया हुआ आदमी अपने किये हुए कुत्सित कर्मको जानताहुआ भी अपने कुलकी सुखसंपदाको इच्छता है, मगर उन कोतवाल सुभट लोगोंसे छूटनेको असमर्थ है। बस ठीक उसी प्रकार यह जीव भी अविरतिरूप कुत्सित कर्मको जानता हुआ विरतिरूप सुखसौन्दर्यको इच्छता है। किन्तु राजकीय सुभटोंके समान अप्रत्याख्यानीयादि कषायोंके वशहोकर विरति-

नियम प्रत्याख्यान धारण करनेको असमर्थ है, अर्थात् चतुर्थ गुण-स्थानीय प्राणी किसी प्रकार भी शारीरिक नियम प्रत्याख्यान नहीं धारण कर सकता।

अब चतुर्थ गुणस्थानकी स्थिति कहते हैं—

उत्कृष्टास्य त्रयस्त्रिंशत्सागरासादिकास्थितिः।
तदर्द्धपुद्गलावर्त्तभवैर्भव्यैरवाप्यते ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—इसकी उत्कृष्टस्थिति कुछ अधिक ३३ तेतीस सागरोपमकी है और जिनका अर्धपुद्गल परावर्त बाकी संसार रहा हो उन्हीं भव्यजीवोंको यह गुणस्थान प्राप्त होता है ॥

व्याख्या—इस अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक ३३ तेतीस सागरोपमकी है, यह ३३ सागरोपमकी स्थिति सर्वार्थसिद्धविमानसंवन्धि समझना और जो अधिक कही है, वह देवलोकसे चवकर मनुष्यभवसंबन्धि समझना। इसी प्रकार इस गुणस्थानकी उत्कृष्टस्थिति कुछ अधिक तेतीस सागरोपमकी हो सकती है अन्यथा नहीं। इस अविरति सम्यग्दृष्टिनामा चतुर्थ गुणस्थानको वे ही भव्यजीव प्राप्त कर सकते हैं कि जिनका अर्ध पुद्गल परावर्त्त मात्रकाल शेष संसार रहा हो ॥

अब सम्यग्दृष्टिके गुण बताते हैं—

कृपाप्रशमसंवेगनिर्वेदास्तिक्यलक्षणाः।
गुणा भवन्ति यच्चित्ते, स स्यात्सम्यक्त्वभूषितः ॥२१॥

श्लोकार्थ—कृपा, प्रशम, संवेग, निर्वेद, आस्तिक्यलक्षण, ये पूर्वोक्त गुण जिसके चित्तमें हैं, वह मनुष्य सम्यक्त्वसे विभूषित होताहै॥

व्याख्या—दुखी जीवोंके दुःखको दूर करनेकी इच्छारूप कृपा,

कोपादिकारण उपस्थित होनेपर भी क्रोधाभावरूप प्रशम, सिद्धिरूप मन्दिरमें चढ़नेके लिए सोपानके समान सम्यग्ज्ञानादि में उत्साहरूप जो मोक्षपदका अभिलाष है, तद्रूप संवेग, अत्यन्त कुत्सित संसार कारागारसे निकलनेमें दरवाजेके समान वैराग्यरूप निर्वेद, श्रीसर्वज्ञदेवप्रणीत समस्त भावोंकी अस्तित्वबुद्धिरूप आस्तिक्य, ये पूर्वोक्त लक्षणवाले गुण जिस जीवके हृदयमें निवास करते हैं, वह जीव सम्यत्तवसे विभूषित कहा जाता है। अर्थात् पूर्वोक्त गुणयुक्त मनुष्य सम्यत्तवधारी होता है।

अब सम्यग्दृष्टी जीवकी गति बताते हैं—

क्षायोपशमिकी दृष्टिः, स्यान्नरामरसंपदे।
क्षायिकीतु भवे तत्र त्रितुर्ये वा विमुक्तये॥ २२॥

श्लोकार्थ—क्षायोपशमिक सम्यत्तववाला जीव कालकरके मनुष्य या देव संबन्धि संपदाको प्राप्त करता है किन्तु क्षायिक सम्यत्तववाला जीव तो उसी भव में अथवा चतुर्थ भव में मुक्ति प्राप्त करता है॥

व्याख्या—जीवके परिणाम विशेषको करण कहते हैं। वह करण तीन प्रकारके होते हैं। १ यथाप्रवृत्ति करण, २ अपूर्व करण, ३ अनिवृत्ति करण। ये तीन करण कहे जाते हैं। जिस प्रकार किसी पर्वतकी नदीमें पानीके प्रवाहसे रखड़ता हुआ पाषाण-खण्ड गोलाकार होजाता है, उसी न्यायसे यह जीव भी अनादि-कालसे संसारमें रखड़ता हुआ आयु कर्मको वर्जकर सातों ही कर्मोंकी स्थिति को कुछ कम एक कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण-वाली करता हुआ जिस अध्यवसायके द्वारा ग्रंथीके समीप तक

आता है, उस अध्यवसाय विशेषको ही यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण करके पूर्व कालमें न प्राप्त हुआ हो, ऐसे अध्यवसायके द्वारा जो सघन रागद्वेष परिणातिरूप ग्रंथीको भेदन करता है, उस अध्यवसाय विशेषको दूसरा अपूर्वकरण कहते हैं। जिस अनिवृत्तक अध्यवसाय विशेषके द्वारा ग्रंथी भेदन करके परमानन्द देनेवाले सम्यक्त्वगुणको प्राप्त करता है, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। सम्यक्त्वगुणकी प्राप्तिमें रुकावट करनेवाला अनादिकालसे आत्माके साथ सघन राग द्वेषरूप एक पुद्गल पुंज (सघन कर्मसमूह) होता है, उसीको ग्रंथी कहते हैं। उस ग्रंथीको भव्य जीव अपूर्वकरणद्वारा भेदन करके अनिवृत्तिकरणमें सम्यक्त्वगुणको प्राप्त करता है। किन्तु ग्रंथी भेदन किये बिना जीवको सम्यक्त्वगुण प्राप्त नहीं होता। श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणमहाराज फरमाते हैं—

अन्तिम कोडाकोडी, सव्वकम्माणमाउवज्जाणं। पलिआसंखिज्जइमे, भागे खीणे हवइ गंठी ॥१॥ अर्थ—आयुकर्मको वर्ज कर बाकीके सातों ही कर्मोंकी अन्तिम स्थिति जब एक कोड़ा कोड़ी सागरकी रहती है, तब उसमें से पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग क्षीण होनेपर ग्रंथी भेदन होती है। पूर्वोक्त जो तीन करण बताये हैं। उनमें से प्रथम करण तो ग्रंथी भेदनके पूर्वमें ही होता है। दूसरा ग्रंथी भेदन करते समय होता है, अर्थात् दूसरे अपूर्व करण नामा करणमें यह जीव दुर्भेद्य कर्कश निबिड़ रागद्वेष परिणतिरूप ग्रंथीको भेदन करता है। तीसरा करण ग्रंथी भेदनके बाद सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे होता है। इस बातको भली भाँति समझानेके लिए यहाँ पर एक दृष्टान्त दिया जाता है। जिस तरह कोई तीन आदमी किसी एक नगरको जा रहे हैं। किन्तु पर्वतकी अटवीका भयानक मार्ग होनेके कारण उन्हें चलते चलते

सूर्यास्त होनेका समय हो गया। इस लिए वे तीनों ही जने मार्ग तह करनेके लिए जलदी जलदी आ रहे हैं। दैवयोग उस अटवीके भयानक मार्गमें उन तीनों जनोंको दो चोर मिल गये। सामने दो चोरोंको देखकर उन तीनों मुसाफरोंका हृदय घभरा उठा और इस वक्त क्या करना चाहिये ? इस विचारमें पड़ गये। इस समय उन तीन मुसाफरोंमेंसे एक मुसाफर तो भीरु होनेके कारण अत्यन्त भयभीत हो कर पीछे भाग गया। एकको उन चोरोंने पकड़ लिया, किन्तु तीसरा कुछ जवरदस्त था अतएव वह उन चोरोंसे लड़ने लगा। अन्तमें वह तीसरा मुसाफर दोनों चोरोंको मार पीट कर अपने इच्छित स्थानपर पहुँच गया। इस दृष्टान्तका उपनय, इस प्रकार समझना—उन तीन मुसाफरों के समान संसारी जीव हैं, भयंकर अटवीके समान संसार है, दुर्लंघ्य अटवीमार्गके समान ग्रंथी समझना, लंबे रास्तेके समान जीवकी कर्मस्थिति है, दो चोरोंके समान राग और द्वेष समझना, और जो मुसाफरोंके जानेका इच्छित स्थान या नगर है, वह सम्यक्त्व। जो मनुष्य प्रथम चोरोंको देखकर ही भयभीत होकर पीछे लौट गया है, उस जीवकी संसारमें परिभ्रमण करनेकी अभी स्थिति बहुत है, अर्थात् उस जीवको भारी कर्मी समझना चाहिये। जिस मनुष्यको चोरोंने पकड़ लिया है, उसके समान रागद्वेष ग्रसित संसारमें परिभ्रमण करनेवाला भव्य प्राणी समझना और जो मनुष्य चोरोंसे न डरकर, उन्हें मार पीटकर अपने इच्छित स्थानपर पहुँच गया है, वह सम्यग्दृष्टी जीव समझना, अर्थात् उसके समान सम्यग्दृष्टी जीव है। इस दृष्टान्तके उपनयसे ग्रंथीभेदन सहित तीनों करणका स्वरूप भली भाँति समझा जा सकता है।

यथाप्रवृत्तिकरण करके जीव ग्रंथी देशको प्राप्त करता है और अपूर्वकरण करके ग्रंथीको भेदन करता है। इसके बाद

कोइ एक जीव अपनी मिथ्यात्व पुद्गलराशिको विभागित करके मिथ्यात्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयरूप तीन पुंज करता है। जब वह अनिवृत्तिकरण करके शुद्ध होकर उदयमें प्राप्त हुवे मिथ्यात्वको क्षय करे और उदयमें न प्राप्त हुवे मिथ्यात्वको उपशमा देवे, तब उस जीवको क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। जब क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया, तब उसे मनुष्य तथा देवगति प्राप्त हो सकती है। अपूर्वकरण करके जिस जीवने तीन पुंज किये हैं, वह जीव यदि चतुर्थ गुणस्थानसे ही क्षपकपनेका प्रारंभ करे, तो प्रथम अनन्तानुबन्धि चार कषाय, १ मिथ्यात्व मोहनीय, १ मिश्र मोहनीय और १ सम्यक्त्व मोहनीय, इन सातों प्रकृतियोंको सत्तासे क्षय करनेपर उसे क्षायिक सम्यक्त्व गुण प्राप्त होता है। क्षायिक सम्यक्त्ववाले जीवने यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करनेसे पहले आयुका बन्ध न किया हो तो वह जीव उसी भवमें मोक्षपदको प्राप्त करता है, यदि पहले आयुका बन्ध करके पीछे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया हो तो वह जीव तीसरे भवमें मोक्षपदको प्राप्त करता है, और यदि असंख्य वर्षोंका मनुष्यायु या तिर्यंचायु बाँधकर पीछे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया हो तो वह जीव चौथे भवमें मोक्षको प्राप्त करता है॥

अब अविरति गुणस्थानवर्ती जीवका कृत्य बताते हैं—

देवे गुरौ च सङ्घे च, सद्भक्तिं शासनोन्नतिम्।
अव्रतोपि करोत्येव, स्थितस्तुर्यगुणालये॥ २३॥

श्लोकार्थ—चतुर्थ गुणस्थानमें व्रतरहित भी जीव देव-गुरु-संघकी भक्ति तथा जिनशासनकी समुन्नति करता है।

व्याख्या—चतुर्थ गुणस्थानमें रहा हुआ अविरति सम्यग्दृष्टी जीव व्रत नियम रहित भी देव–गुरु–संघकी भक्ति तथा जिनशासनकी समुन्नति करता है, अर्थात् प्रभावक श्रावक होनेसे जिनशासनकी पूजा प्रभावनादि उन्नति करता है। तथा अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें रहा हुआ जीव तीर्थंकर नामकर्म, देव संबन्धि आयु तथा मनुष्य संबन्धि आयुका बन्ध होनेसे ७७ सतत्तर कर्मप्रकृतियोंको बाँधता है। मिश्रमोहनीयका अनुदय होनेसे और सम्यक्त्वमोहनीय, तथा अनुपूर्वी चतुष्कका उदय होनेसे १०४ एकसौ चार प्रकृतियोंको वेदता है, तथा १३८ एकसौ अड़तीस कर्मप्रकृतियाँ सत्तामें रखता है।

उपशमश्रेणीवाला जीव चौथे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त सर्वत्र एकसौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियाँ सत्तामें रखता है। क्षपकश्रेणीवाले जीव संबन्धि प्रकृतियोंकी सत्ता प्रति गुणस्थान आगे चलकर कथन करेंगे।

॥ चौथा गुणस्थान समाप्त ॥

अब पाँचवें देशविरति गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—

प्रत्याख्यानोदयाद्देशविरतिर्यत्र जायते।
तच्छ्राद्धत्वं हि देशोनपूर्वकोटिगुरुस्थितिः ॥२४॥

श्लोकार्थ—प्रत्याख्यानके उदयसे जहाँपर देशविरति होती है, वहाँ पर श्रावकपना होता है और उसकी देश ऊना पूर्वकोटी गुरुस्थिति होती है॥

व्याख्या—पंचम गुणस्थानवर्ती जीवको सम्यक्त्वअवबोधजन्य वैराग्यसे सर्वविरति इच्छते हुए भी सर्वविरतिको

रुकावट करनेवाले प्रत्याख्यान भेदवाले कषायोंके उदयसे सर्वविरतिको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त नहीं होती, परन्तु जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट देशविरति ही प्राप्त कर सकता है। जघन्य देश विरति–स्थूल हिंसादि परित्यागसे तथा मदिरा मांसका परिहार, पंचपरमेष्ठि नमस्कार महामंत्रका स्मरण, इत्यादि नियम मात्र धारण करनेसे प्राप्त होती है। अर्थात् पूर्वोक्त वस्तुओंका परित्याग करने और नवकार मंत्रका स्मरण तथा नियम मात्र ग्रहण करनेसे जीवको जघन्य देशविरति प्राप्त होती है। मध्यम देशविरति अक्षुद्रादि गुण तथा न्यायसंपन्न विभव, इत्यादिसे या धर्मके योग्य गुण धारण करनेवाले, गृहस्थाश्रमके उचित षट्कर्म करनेवाले, और जिन बारह व्रतोंका स्वरूप आगे चलके कथन करेंगे, उन्हें धारण करनेवाले सदाचारी जीवको प्राप्त होती है। शास्त्रमें कहा भी है कि–धर्मयोग्यगुणाकीर्णः, षट्कर्मा द्वादशव्रतः, गृहस्थश्च सदाचारः, श्रावको भवति मध्यमः ॥१॥ अर्थ–धर्मके योग्य गुणोंसे युक्त, षट्कर्म करनेवाला, और बारह व्रत पालनेवाला, सदाचारी गृहस्थी, मध्यम श्रावक होता है। उत्कृष्ट देशविरति–सदाकाल सचित्त आहारका परित्याग करनेवाला, प्रतिदिन एक दफा भोजन करनेवाला, सदाकाल शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रतको पालनेवाला, महाव्रतोंको ग्रहण करनेकी इच्छावाला, तथा गृहस्थ संबन्धि व्यापारको त्यागनेवाला श्रमणोपासक (श्रावक) प्राप्त कर सकता है। केवल बारह व्रतोंको धारण करने तथा स्थूल हिंसादिका परित्याग करने मात्रसे उत्कृष्ट देशविरति नहीं प्राप्त होती, किन्तु पूर्वोक्त विशेषणों सहित ही उत्कृष्ट देशविरतिका धारक होता है। यह पूर्वोक्त तीन प्रकारकी देशविरति जहाँ पर होती है, वहाँ पर देशविरति श्रावक पना होता है, अर्थात् उसे देशविरति नामक पंचम गुणस्थान

कहते हैं। इस पूर्वोक्त देशविरति पंचम गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति देशऊना याने आठ वर्ष कम पूर्वकरोड़की है। भाष्यकार महात्मा भी फरमाते हैं-षडावली सास्वादनं समधिकत्रयस्त्रिंशत्सागराणि चतुर्थम्। देशोन पूर्वकोटीं पंचमकं त्रयोदशं च पुनः॥१॥ अर्थ-छः आवली कालकी स्थिति, सास्वादन गुणस्थानकी है, कुछ अधिक तेतीस सागरोपमकी स्थिति चौथे गुणस्थानकी है, देश ऊना पूर्वकोटी पाँचवें गुणस्थान तथा तेरहवें गुणस्थानकी है॥

अब देशविरति गुणस्थानके अन्दर ध्यानकी संभावना कहते हैं-

आर्त्तरौद्रं भवेदत्र मंदं धर्म्यं तु मध्यमम्।
षट्कर्म प्रतिमाश्राद्ध व्रतपालनसंभवम्॥ २५॥

श्लोकार्थ-इस गुणस्थानमें आर्त्तरौद्र ध्यान मन्द होते हैं और धर्मध्यान मध्यम होता है, तथा छः कृत्य, ग्यारह प्रतिमा, श्रावकके व्रत पालन करनेकी संभावना होती है॥

व्याख्या-देशविरति गुणस्थानमें आर्त्त रौद्र तथा धर्मध्यान, ये तीन ध्यान होते हैं। शुक्ल ध्यानकी संभावना सातवें गुणस्थानसे होती है, इसलिये उसके भेद प्रभेद आगे चलकर क्षपकश्रेणीमें बतावेंगे। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, तथा शुक्लध्यान, इन चारों ध्यानोंके एक एकके चार चार पाये होते हैं। आर्त्तध्यानके चार पायोंके नाम-१ अनिष्टयोगार्त्त, २ इष्टवियोगार्त्त, ३ रोगार्त्त, ४ निदानार्त्त, ये चार पाये आर्त्तध्यानके समझने। अब रौद्रध्यानके चार पाये बताते हैं, १ हिंसानन्दरौद्र, २ मृषावादानन्दरौद्र, ३ चौर्यानन्दरौद्र, ४ संरक्षणानन्दरौद्र। ये दोनों आर्त्त और रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थानमें मन्दतया होते हैं और

ज्यों ज्यों देशविरति अधिकाधिकतर वृद्धिगत होती जाती है, त्यों त्यों आर्त्त और रौद्रध्यान भी अधिकाधिकतर मन्दताको प्राप्त होते जाते हैं। तथा जितनी जितनी आर्त्त और रौद्रध्यानकी मन्दता होती जाती है, उतनी ही उतनी मन्दताको प्राप्त हुए हुए धर्मध्यानमें अधिकता प्राप्त होती है। परन्तु इस गुणस्थानमें धर्म-ध्यानकी उत्कृष्टता प्राप्त नहीं होती, और यदि किसी समय धर्मध्यानकी उत्कृष्टता उसे प्राप्त हो जाये, तो फिर वहाँ पर भावसे उसे सर्व विरतिपना प्राप्त हो जाता है। पूर्वोक्त मध्यम धर्मध्यानके अन्दर छः कृत्य, ग्यारह श्रावककी प्रतिमा और श्रावकके बारह व्रत, ये सब देशविरति गुणस्थानवर्ती जीव पाल सकता है। ऊपर बताये हुए छः कृत्योंका स्पष्टीकरण नीचे मुजब सम-झना। देवपूजा गुरुपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ १ ॥ अर्थ—देशविरति पंचम गुणस्थानमें रहनेवाले श्रावकको १ देवपूजा, २ गुरुमहाराजकी सेवाभक्ति, ३ यथाशक्ति स्वाध्याय, ४ पाँचों इन्द्रियोंका दमन (निग्रह), ५ यथाशक्ति तपश्चर्या, तथा ६ दान देना, ये छः कृत्य प्रतिदिन करने चाहियें। देशविरति गुणस्थान स्थायी श्रावकको बारह व्रत सदैव पालने चाहियें, जिन बारह व्रतोंका यहाँ पर प्रथम नाम बताकर स्वरूप लिखते हैं। पहला व्रत—१ स्थूल हिंसाका परित्याग, २ स्थूल मृषावादका परित्याग, ३ स्थूल चोरीका परित्याग, ४ परस्त्रीका सर्वथा परित्याग, ५ स्थूल परिग्रहका परिमाण करना, ६ अपने आनेजानेके लिए दिशाओंका परिमाण करना, ७ भोगोपभोग करनेमें परिमाण करना, ८ अनर्थदंडका सर्वथा परित्याग करना, ९ सामायिक व्रत ग्रहण करना, १० देशावकाशिक व्रत ग्रहण करना, ११ पौषध उपवास व्रत ग्रहण

करना और १२ अतिथिसंविभाग करना, ये पूर्वोक्त बारह व्रतोंके संक्षेपसे नाम जनाये हैं, इन बारह व्रतोंका पालनेवाला प्राणी क्रमसे सर्वविरतिके योग्य होता है । ऊपर कहे हुवे आर्त्त, रौद्र तथा धर्मध्यानका स्वरूप प्रसंगसें आगे चलकर छठे गुणस्थानमें लिखेंगे, यहाँ पर प्रसंगसे देशविरति गुणस्थानके योग्य बारह व्रतोंका स्वरूप लिखना उचित है।

(बारह व्रतोंका स्वरूप.)

बारह व्रतोंमें पांच तो अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं, इस तरह बारह व्रत होते हैं। पाँच अणुव्रतोंमेंसे पहला स्थूल जीवोंकी हिंसाका परित्यागरूप है। इस व्रतको गृहस्थ श्रावक द्विविध-त्रिविध भंगद्वारा ग्रहण करता है। स्थूल शब्दसे द्वीन्द्रियादि त्रसजीवोंसंबन्धि संरक्षण समझना। तथा विना स्वार्थ निरर्थक स्थावर जीवोंकी भी हिंसा द्विविध त्रिविध न करना चाहिये। द्विविध त्रिविधका मतलब यह है कि स्थूल जीवोंकी हिंसा न तो करे, और न अन्यसे करावे, इस भंगको द्विविध कहते हैं। मन-वचन-कायासे स्थूल जीवोंकी हिंसा न तो करे और न करावे.

इसे द्विविध त्रिविध कहते हैं।

अर्थात् द्विविध त्रिविधका मतलब यह है कि जब गृहस्थी स्थूल हिंसादिकी विरतिको ग्रहण करता है, तब इस प्रकार प्रत्याख्यान (नियम) लेता है—मन-वचन-कायासे स्थूल हिंसादि आरंभ न तो करूँ न कराऊं, मगर अनुमोदन करनेका उसे छूटा है, याने अनुमोदन करनेका उसे निषेध नहीं, क्योंकि गृहस्थीको कई सावद्य कार्योंकी अनुमोदना करनी पड़ती है, इस लिये यह भंग गृहस्थीको खुला होता है। यदि कोई यहाँ पर यह शंका करे

कि श्री भगवती सूत्रमें श्रावकके लिये भी त्रिविधं त्रिविधेन, ऐसा पाठ आता है, अर्थात् गृहस्थके लिये भी त्रिविध त्रिविध प्रत्याख्यान करनेका फरमाया है, तो फिर यहाँ पर द्विविध त्रिविध कहनेकी क्या जरूर ? वैसा ही क्यों न किया जाय। इसके उत्तरमें समझना चाहिये कि उस तरह त्रिविध त्रिविध भंगका अविशेषपना है, याने पूर्वोक्त भंगका अल्प ठिकाने ही व्यापकपना है। वह यों समझना–जो गृहस्थ दीक्षा लेनेकी इच्छा रखता हो वह यदि स्थूल हिंसासे विरति धारण करे तो अवश्य त्रिविधं त्रिविधेन, पाठसे प्रत्याख्यान करे। किन्तु बहुलतासे द्विविध त्रिविधके भंगसे ही ग्रहण किया जाता है।

पहले अणुव्रतके छः भंग होते हैं, जिसमें प्रथम भंग तो कह ही दिया, अब आगेके पाँच ये हैं–द्विविध द्विविध, यह दूसरा भंग समझना, द्विविध एकविध, यह तीसरा भंग, एकविध त्रिविध, यह चौथा भंग, एकविध द्विविध, यह पाँचवाँ भंग और एकविध एकविध, यह छठा भंग समझना। इस तरह पूर्वोक्त प्रकारसे पहले अणुव्रतके ये छः भंग होते हैं। इसी तरह दूसरे व्रतोंके भी समझलेने। पहले अणुव्रतके जो पूर्वोक्त छः भंग बताये हैं, उन्हें सात गुणाकार करके उनमें छःओर मिलानेसे अड़तालीस भंग होते हैं। इसी प्रकार आगेके व्रतों संबन्धि भी समझना, अर्थात् पहले व्रतसे लेकर बारहवें व्रत पर्यन्त इसी प्रकार समझ लेना; समुच्चय एक संयोगि, द्विसंयोगि तथा त्रिसंयोगि, एवं बारह ही व्रतोंके परस्पर संयोगि भंग करनेपर यदि सबकी संख्या की जाय तो तेरहसौ चौरासी करोड़, बारह लाख, सतासी हजार और दोसोकी होती हैं। ग्रंथ बड़ा होनेके भयसे यहाँ पर इस विषयको सविस्तर नहीं लिखा है, यदि किसी पाठक महाशयकी इस विष-

यको विशेष जाननेकी जिज्ञासा हो, तो श्रावक व्रतभंग प्रकरण तथा धर्मरत्न वगैरह ग्रंथावलोकन करके अपनी इच्छा पूर्ण कर लेवे।

गृहस्थ श्रावकको मुनिसे सवा विश्वा (सवावसा) दया होती है। सो इस प्रकार समझना—सूक्ष्म तथा स्थूल, ये दो प्रकारके जीव संकल्प और आरंभसे हणाये जाते हैं। उन जीवोंमें भी दो प्रकार होते हैं, एक तो सापराधि और दूसरे निरापराधि। उन जीवोंकी हिंसा दो तरहसे होती है, एक तो सापेक्षतया और दूसरे निरपेक्षतया। ऊपर कथन किये हुवे स्थूल शब्दसे त्रसजीव समझने और सूक्ष्म शब्दसे एकेन्द्रियादि जीव समझने। सूक्ष्म जीवोंके स्थावरादि पाँच भेद होते हैं, परन्तु जो सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे सर्व लोकाकाशमें ठसाठस भरे हुवे हैं, उन जीवोंको यहाँ पर लेनेकी जरूरत नहीं, क्योंकि उन्हें शस्त्र अस्त्रादिसे कोई नहीं हण सकता, किसी प्रकारकी तकलीफ नहीं दे सकता, वे अपनी आयुको पूर्ण करके ही मृत्युको प्राप्त होते हैं। अतएव उन जीवों संबन्धि अविरति जन्य पापकर्म तो लगता ही है, किन्तु हिंसा जन्य पापकर्म नहीं लगता, इस लिये उन जीवोंकी हिंसाका अभाव होनेसे उन्हें यहाँ पर गिननेकी आवश्यक्ता नहीं। पूर्वोक्त सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों ही प्रकारके जीवोंकी हिंसासे मुनि लोग सर्वथा विमुक्त होते हैं, अतएव उन्हें बीस विश्वा दया होती है। गृहस्थको तो केवल स्थूल जीवोंकी ही हिंसासे निवृत्ति होती है, क्योंकि गृहस्थको सदा काल पृथिवी जल वनस्पति अग्नि वगैरहका आरंभ समारंभ करना पड़ता है, अर्थात् पाँच स्थावरकी हिंसा तो सदैव गृहस्थके पीछे लगी हुई है। सूक्ष्म जीवों संबन्धि हिंसासे गृहस्थी नहीं बच सकता, इस लिये दश विश्वा तो इस तरह ही उड़ जाती है। अब रही स्थूल जीवोंकी हिंसा, वह भी

दो प्रकारसे होती है; एक तो संकल्पसे और दूसरे आरंभसे। संकल्प जन्य हिंसासे, याने मनमें ऐसा विचार हो कि इस जीवको मैं मारूँ, इत्यादि जो मनके संकल्पसे हिंसा होती है, उस हिंसासे गृहस्थ मुक्त हो सकता है, किन्तु आरंभ जन्य हिंसासे निवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि खेती वाड़ी वगैरह अनेक प्रकारके आरंभ समारंभवाले व्यापार उसे अपने स्वजन संबन्धि—कुटुंबियोंके लिये करने पड़ते हैं और उन व्यापारोंमें त्रसजीवोंकी भी हिंसा होती है। यदि गृहस्थावस्थामें रह कर व्यापार वगैरह न करे, तो कुटुंबका निर्वाह नहीं हो सकता, इस लिये वह आरंभवाला व्यापार भी उसे करना ही पड़ता है। उस आरंभसे पाँच विश्वा दया उड़जाती है, अब उसके पास केवल पाँच विश्वा दया शेष रही।

संकल्पसे त्रसजीवोंकी हिंसामें भी दो भेद हैं—सापराधि और निरापराधि। उसमें भी गृहस्थ निरापराधि जीवोंकी हिंसासे निवृत्त हो सकता है, परन्तु सापराधि जीवोंके लिये तो उसे विचार करना ही पड़ता है, अर्थात् सापराधि जीवोंके लिये उसे वध बन्धन करनेका भी संकल्प करना पड़ता है। इस तरह पाँच विश्वा दयामेंसे भी आधा भाग चला जाता है। अब केवल ढाई विश्वा दया उसके पास रही। निरापराधि जीवकी हिंसामें भी दो भेद हैं—एक तो सापेक्ष और दूसरा निरपेक्ष। उसमेंसे गृहस्थ निरपेक्ष हिंसासे मुक्त हो सकता है, मगर सापेक्ष हिंसासे नहीं छूट सकता, क्योंकि निरापराधि घोड़े बैलादि भार वहन करनेवाले जीवों तथा वैसे ही पठन पाठनमें या अन्य किसी भी कार्य करनेमें प्रमादी पुत्रादिकको सापेक्षपने ताड़ना तर्जना करता है, इस लिये ढाई विश्वा दयामेंसे आधा विभाग जानेपर उसके पास वही सवा विश्वा दया कायम रहती है। इस तरह गृहस्थ श्रावकको

सवा विश्वा दया कही है। इस प्रकार प्रथम व्रतका स्वरूप समझना॥

दूसरा व्रत मृषावाद विरमण नामक है, मृषावादके सूक्ष्म और वादर, ये दो भेद होते हैं। जिसमें तीव्र संकल्प जन्य स्थूल मृषावाद और हास्यादि जन्य सूक्ष्म मृषावाद समझना। सूक्ष्म मृषावादमें श्रावकको यतना पूर्वक वर्तन करना चाहिये, किन्तु स्थूल मृषावादका तो अवश्य ही परित्याग करना चाहिये, क्योंकि स्थूल मृषावादसे लौकिकमें भी अपकीर्ति होती है, तथा इससे कभी कभी मनुष्यको महाकष्ट भी उठाना पड़ता है। विशेषतः पृथ्वी, कन्या, गाय, धनकी स्थापन (किसीकी धरोहर) तथा किसीकी झूंठी साक्षी (गवाही) देना, ये पाँच स्थूल मृषावाद कहे जाते हैं। कन्या संवन्धि स्थूल मृषावाद इसे कहते हैं–कन्या अच्छी हो निरोगा हो तथापि किसी द्वेष वश होकर उसे विष-कन्यातया दूसरोंमें प्रगट करना। कन्या रोगीष्टा हो या खराब चाल चलनवाली हो तथापि किसी लोभ वश किसी अच्छे घरानेमें उसकी शादी करनेके लिये, उसे सुशीला या निरोगातया लो-गोंमें प्रसिद्ध करे। एवं सुरूपाको कुरूपा, कुरूपाको सुरूपातया स्वार्थ वश लोगोंमें ख्यापन करे। इत्यादि कन्या संवन्धि स्थूल मृषावाद समझना। इतना और भी समझ लेना कि स्थूल अस-त्यमें दास दासी वगैरह सर्व द्विपद संवन्धि असत्यका समावेश हो जाता है।

अल्प दूध देनेवाली गायको अधिक दूध देनेवाली कह कर बेचना, एवं सर्व चतुष्पद संवन्धि समझ लेना, इसे गाय संवन्धि स्थूल मृषावाद कहते हैं।

इसी तरह भूमि तथा दूसरेकी धरोहर वगैरह संवन्धि समझ लेना। असत्य (मृषावाद) चार प्रकारका होता है। उस चार

प्रकारमें पहला अभूतोद्भावन नामा है। अभूतोद्भावन उसे कहते हैं—आत्मा सर्वगत है, अथवा खड़ धान्य—चावलके समान ही है। इत्यादि जो कथन करना है, इसे ही असत्यका अभूतोद्भावन नामक प्रथम भेद कहते हैं। दूसरा भेद भूतनिन्हव नामक है। विद्यमान वस्तुका निषेध करना, जैसे कि आत्मा है ही नहीं, फिर उसे सुख दुःख किस तरह हो सकता है? और जब आत्मा ही नहीं तब पुण्य पापकी तो संभावना ही कहाँ? इत्यादि जो पदार्थोंके अस्तित्वका नास्तित्वरूप कथन करना है, इसे असत्यका दूसरा भेद समझना। असत्यका तीसरा भेद अर्थान्तर नामा है, वस्तुको उसके असली स्वरूपसे उसे विपरीत रूपमें कथन करना, जैसे गायको भैंस, भैंसको गाय, बैलको घोड़ा, घोड़ेको ऊंट, इत्यादि रूपसे जो कथन करना है, उसे अर्थान्तर नामा असत्यका तीसरा भेद कहते हैं। चौथा असत्यका गर्हा नामा भेद है, गर्हाके जुदे जुदे तीन भेद होते हैं। जिसमें प्रथम तो सावद्य व्यापारमें प्रवृत्ति कराना, अर्थात् किसी भी पापारंभमें प्रवृत्त होनेके लिये किसीको उपदेश करना, उसे गर्हा असत्यका प्रथम भेद समझना। दूसरा किसीको अप्रिय कारक वचन बोलना, जैसे काणे आदमीको काणा कह कर बुलाना। यद्यपि काणेको काणा कह कर बुलाना, यह देखनेमें तो असत्य नहीं मालूम होता, तथापि वह वचन उसके दिलको दुखानेवाला होनेसे शास्त्रकारोंने उसे सत्यमें नहीं किन्तु असत्यमें ही दाखल किया है। कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य महाराज भी अपने किये योगशास्त्रमें लिखते हैं कि—न सत्यमपि भाषेत, परपीडाकरं वचः। लोकेपि श्रूयते यस्मात्, कौशिको नरकं गतः ॥ १ ॥ इस लिये दूसरेको खेद करनेवाला सत्य वचन भी गर्हाके दूसरे असत्य भेदमें समझना। तीसरा—

किसीको आक्रोशसे या तिरस्कारसे मार्मिक वचन बोलना या मूर्ख बेवकूफ कह कर उसके दिलको दुखाना। इत्यादि हृदयको वेधनेवाले वचनरूप असत्यसे जीवोंको नरकादिके दुःखोंका अनुभव करना पड़ता है। श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराजने फरमाया है कि जो मनुष्य मृषावादी होता है, उसे काल करके निगोद, तिर्यंच तथा नरकमें जाकर पैदा होना पड़ता है और वहाँ पर अनेक प्रकारके दुःखोंका अनुभव करना पड़ता है।

चोरी करनेवाले तथा परस्त्री भोगनेवाले जीवको पापसे मुक्त होनेके अनेक उपाय हैं, किन्तु जो मनुष्य असत्यवादी है, उसे असत्य जन्य पापसे मुक्त होनेके लिये कोई उपाय नहीं। अतएव सुज्ञ पुरुषोंको असत्यका स्वरूप समझ कर उसका अवश्य परित्याग करना चाहिये। पूर्वोक्त प्रकारसे दूसरे अणुव्रतका स्वरूप समझना। अब तीसरा अदत्तादान विरमण नामक अणुव्रत कहते हैं।

अदत्तादान शास्त्रमें चार प्रकारका फरमाया है—तदाद्यं स्वामिनादत्तं जीवादत्तं तथा परम्। तृतीयंतु जिनादत्तं, गुर्वदत्तं तुरीयकम् ॥ १ ॥ अर्थ—पहला स्वामी अदत्त है, स्वामी अदत्तका मतलब यह है कि मालिककी रजा विना वस्तुको ग्रहण करना, इसे स्वामी अदत्त कहते हैं। दूसरा जीव अदत्त है। वृक्षादिके फल-फूल तथा पत्रादिकको ग्रहण करना, इसे जीवादत्त कहते हैं, क्योंकि उस फल फूलादिके अन्दर जो जीव हैं, उन्होंने अपने प्राण ग्रहण करनेकी रजा नहीं दी है। इस लिये वह जीव अदत्त कहा जाता है। गृहस्थ द्वारा दिया हुआ आधाकर्मी आहार (साधुके लिये बनाया हुआ अन्नपान) यदि साधु विशेष कारण विना ग्रहण करे तो वह तीर्थंकरकी आज्ञा न होनेसे तीर्थंकर अदत्त कहा जाता है, इसी तरह यदि श्रावक लोग अभक्ष

भक्षण करें तो वह भी तीर्थंकर अदत्त समझ लेना। जो वस्तु गुरु महाराजकी आज्ञा विना अंगीकार की जाती है, चाहे वह वस्तु निर्दोष ही हो, तथापि वह गुरु अदत्त कहा जाता है। पहला स्वामी अदत्त सूक्ष्म तथा बादर भेदसे दो प्रकारका है; जिसमें स्वामीकी आज्ञा विना याने मालिककी रजा सिवाय तृण वगैरह निर्माल्य वस्तुको भी जो अंगीकार करना है, उसे सूक्ष्म स्वामि अदत्त कहते हैं। मालिककी रजा विना जो बड़ी वस्तुको ग्रहण करना है, अर्थात् जिस वस्तुके आदानसे लोकमें अपकीर्ति हो और राजाकी तर्फसे सजा मिले, उसे स्थूल या बादर स्वामि-अदत्त कहते हैं। तथा चोरीकी बुद्धिसे किसीकी अल्प वस्तु भी जो ग्रहण की जाती है, वह भी स्थूल अदत्त ही कहा जाता है। इस प्रकार चार भेद सहित अदत्तादानमें पहले स्वामि अदत्तके दो भेद होते हैं। इस दोनों प्रकारके स्वामि अदत्तमेंसे गृहस्थ श्रावकको सूक्ष्म स्वामि अदत्तमें तो यत्नपूर्वक बर्ताव करना चाहिये और स्थूल अदत्तादानका सर्वथा परित्याग करना चाहिये। सदाचारी गृहस्थ श्रावकको चाहिये कि वह चोरीकी दानतसे किसीकी वस्तु न तो खुद ग्रहण करे, ना ही दूसरेसे ग्रहण करावे और चोरीका आया हुआ माल या कोइ वस्तु मोलको भी ग्रहण न करे। इस तरहसे अदत्तादान (चोरी) का स्वरूप समझ कर गृहस्थीको स्थूल चोरीका परित्याग करना चाहिये॥

अब चतुर्थ स्वदारासंतोष नामक अणुव्रतका स्वरूप लिखते हैं–संतोषः स्वदारेषु, त्यागश्चापरयोषिताम्। गृहस्थानां प्रथयति, चतुर्थं तदणुव्रतम्॥ १॥ अर्थ–अपनी विवाहित स्त्री पर संतोष रख कर परस्त्रीका परित्याग करना यह गृहस्थियोंका चतुर्थ अणु-व्रत कहा जाता है। इस व्रतको अंगीकार करनेवाले पुरुषको अ-

पनी विवाहिता स्त्रीको वर्जकर दूसरी स्त्रियोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अर्थात् अपनी स्त्रीसे जुदी जो देव-मनुष्य-तिर्यंच संबन्धि, या अन्यपरिणीता, अन्यस्वीकृता, कुमारी, विधवा तथा वेश्या वगैरह सब ही स्त्रियोंका सर्वथा परित्याग करना चाहिये। यद्यपि अपरिग्रहिता देवांगना, वेश्या, कुमारी तथा तिर्यंचकी स्त्रियाँ किसीकी ग्रहण की हुई नहीं हैं, तथापि वे परजातिके भोग्य होनेसे परस्त्री ही कही जाती हैं, इस लिये उन सबका ही त्याग करना चाहिये। दूसरे यह भी बात है कि स्वदारासंतोषीके लिये तो संसारकी तमाम स्त्री मात्र परस्त्री ही हो चुकीं, अतः उसके लिये तो उन सबका ही त्याग हो चुका। दार शब्दके उपलक्षणसे यहाँ पर इतना विशेष समझ लेना कि जिस प्रकार प्रथम पुरुषोंके लिये कहा गया है, उसी तरह स्त्रियोंको भी अपने स्वीकृत पति पर संतोष रख कर अन्य सभी पुरुषोंका त्याग-नियम करना चाहिये। मैथुन दो प्रकारका होता है, एक तो सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। कामके उदयसे इन्द्रियोंमें जो विकारभाव पैदा होता है, उसे सूक्ष्म कहते हैं और मन-वचन-कायासे औदारिक देह तथा वैक्रिय देहधारि स्त्रियोंके साथ जो संभोग किया जाता है, उसे स्थूल मैथुन कहते हैं। देशविरतिधारी श्रावकको सूक्ष्म मैथुनमें यत्नपूर्वक वर्तन करना चाहिये और परस्त्रीसंबन्धि स्थूल मैथुनका सर्वथा परित्याग करना चाहिये। यह पूर्वोक्त प्रकारवाला चतुर्थ अणुव्रत समझना.

पाँचवाँ अणुव्रत परिग्रह परिमाण नामक है। परिग्रहके अन्दर मनुष्यको अवश्य परिमाण करना चाहिये, अन्यथा उसकी लोभदशा सदैव बढ़ती है और उससे उसकी आत्मा बड़ी ही मलीन हो जाती है। इस विषेमें शास्त्रकार फरमाते हैं-परिग्रहाधिक प्राणी,

प्रायेणारंभकारकः। स च दुःख खनिर्नूनं,ततःकल्प्या तदल्पता ॥१॥
अर्थ-प्राय करके मनुष्य अधिक परिग्रह (संपत्ति) के लिये सदैव आरंभ समारंभ किया करता है, परन्तु अधिक परिग्रह निश्चय दुःखोंकी खान है, इस लिये उसका मनुष्यको जरूर परिमाण करना चाहिये, संसारमें संपत्तिको ही मनुष्योंने सर्व सुखोंका साधन मान रक्खा है, किन्तु जिन मनुष्योंको संतोष नहीं होता, उस संपत्तिको अमुक हद तक प्राप्त करनेका नियम नहीं होता, वे मनुष्य सदैव धनोपार्जनकी लालसामें अनेकानेक पापारंभ करनेमें तत्पर रहते हैं और इससे प्राप्त की हुई संपत्तिका भी उन्हें आनन्द नहीं प्राप्त होता, उनकी आत्माको किसी वक्त भी शान्ति प्राप्त करनेका समय ही नहीं मिलता। जिस मनुष्यको परिग्रहका परिमाण होता है, वह मनुष्य उतना प्राप्त होनेपर संतोष धारण करके उस संपत्तिका भी आनन्द लूट सकता है और आत्मोन्नतिके लिये शान्ति पूर्वक धर्म कर्म भी कर सकता है। परिग्रह परिमाणधारी मनुष्यको कदाचित् व्यापारमें उसके नियमसे अधिक लाभ हुआ हो तो उसे चाहिये कि अपने परिमाणसे अधिक उस धनको अपनी सन्तान या किसी अपने स्वजन संबन्धीके नाम कल्पित न करके श्रीसर्वज्ञ देवके कथन किये हुए सात क्षेत्रों (स्थानों) मेंसे जिस क्षेत्रमें त्रुटी हो याने जिस क्षेत्रमें खामी देखे उसमें खर्चदे। किन्तु अन्य किसीके भी नामसे कल्पित करके उस द्रव्यको घरमें न रक्खे। यहाँ पर कोई शंका करे कि धनादिका परिमाण (नियम) करनेसे क्या फायदा? यदि बहुत सा द्रव्य पास होगा तो कभी काम पड़नेपर काम आयगा। इसके उत्तरमें समझना चाहिये कि इच्छाका अनुरोध करनेके लिये ही परिग्रह परिमाण किया जाता है। इच्छानुरोध, यह

आत्माको शान्ति प्राप्त होनेमें एक अद्वितीय महान् कारण है। जिन मनुष्योंको परिग्रह परिमाणमें किसी भी प्रकारका नियम नहीं होता, उन मनुष्योंको चाहे जितना लाभ होजाय तथापि उनकी इच्छा पूर्ण नहीं होती, बल्कि जितना जितना उन्हें लाभ होता जाता है, उतना उतना ही उन्हें लोभ बढ़ता जाता है।

प्रथम जिन्हें सौकी इच्छा थी आज उन्हें सौ प्राप्त होनेपर दो सौकी इच्छा होती है, कल जिसे एक हजार वसुवोंकी इच्छा थी आज एक हजार प्राप्त होनेपर उसे दस हजारकी इच्छा बढ़ गयी। कल जिसे एक लाख प्राप्त करनेकी इच्छा थी आज मुंबईमें रुईके व्यापारमें उसे उतना ही लाभ होनेपर एक करोड़ प्राप्त करनेका लोभ लगा है। बस अधिक क्या कहें इसी तरह राजा महाराजा तथा इन्द्रादिककी पदवी प्राप्त होनेपर भी इस जीवकी इच्छा पूर्ण नहीं होती। ज्यों ज्यों इसे इच्छित वस्तुका लाभ होता है, त्यों त्यों ही इसके हृदय-समुद्रमें तृष्णा तरंगें अधिकाधिक बढ़ती ही जाती हैं। ज्यों ज्यों हृदयमें तृष्णा-राक्षसी निवास करती है, त्यों त्यों शान्तिदेवी कोसों दूर भागती है। इसी कारण शास्त्रकारोंने इच्छानुरोध करनेके लिये यह परिग्रह परिमाण व्रत धारण करनेका फरमाया है। अधिक लोभी पुरुष बड़े बड़े पापकर्म करनेसे भी नहीं हिचकिचाते, तथा रात दिन कष्ट उठाते ही उनकी जिन्दगी पूर्ण हो जाती है।

लोभके वश होकर मनुष्य भयंकर पर्वतोंकी कन्दराओंमें भटकते हैं, अनार्य देशोंमें परिभ्रमण करते हैं, गहन समुद्रादि जलाशयोंमें प्रवेश करते हैं, दूसरे मनुष्योंके साथ खोटी लड़ाई, झगड़े टंटे करते हैं, तथा नीच आदमियोंकी सेवा उठाते हैं। यदि मनुष्यको परिग्रह परिमाण संबन्धि कुछ भी नियम हो तो वह

पूर्वोक्त कष्टोंसे वच सकता है। अतएव परिग्रह परिमाण संवन्धि नियम यथाशक्ति अवश्य धारण करना चाहिये।

पूर्वोक्त पाँच अणुव्रतोंका स्वरूप कथन किया है, अव क्रमसे गुणव्रतोंका स्वरूप लिखते हैं॥

जिसमें दश दिशाओं संवन्धि गमन करनेकी मर्यादा–नियम किया जाता है, उसे दिग्विरमण नामक प्रथम गुणव्रत कहते हैं। जिसमें पूर्व, अग्नि, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, अधो और उर्ध्व, इन दश दिशाओंमें जानेका अमुक योजनों तक या अमुक कोसों तक अथवा अमुक भूमि पर्यन्त नियम किया जाता है, अर्थात् पूर्वोक्त दिशाओंमें अमुक हद तक ही गमनागमन करना, उस नियमित अवधीसे आगे न जाना, इत्यादि नियम जिस व्रतमें किया जाता है, उसे उत्तर गुणरूप प्रथम गुणव्रत कहते हैं।

इस पूर्वोक्त गुणव्रतको धारण करनेवाले गृहस्थकी तर्फसे त्रस तथा स्थावर जीवोंको अभय दान दिया जाता है, तथा लोभरूप समुद्रकी नियंत्रणा होती है, इत्यादि महान् लाभ इस व्रतको अंगीकार करनेसे होता है। गृहस्थको शास्त्रकार तपे हुए लोहेके गोलेकी उपमा देते हैं। जिस तरह अग्निमें तपाया हुआ लोहेका गोला जहाँ पर पड़ता है, वहाँ पर ही भूमिको भस्मीभूत कर डालता है, उसी प्रकार गृहस्थ भी अविरती होनेसे जिधर गमनागमन करता है याने जिस दिशामें जाता है, उधर ही उस तर्फके जीवोंको त्रास पहुँचाता है। यद्यपि गृहस्थ सर्व स्थानोंमें गमनागमन नहीं करता, तथापि उसे व्रत-नियम न होनेके कारण अविरति जन्य पापकर्म निरन्तर लगता रहता है। इस लिये पूर्वोक्त गुणव्रतमें गृहस्थीको अवश्य विरति धारण करनी चाहिये।

अब भोगोपभोग नामक दूसरा गुणव्रत कहते हैं–जो वस्तु एकही दफा भोगनेमें आती है, फिर दुबारा भोगनेमें न आसके, ऐसी अन्नादि वस्तुओंको भोग कहते हैं और जो वारंवार भोगमें आती हैं, ऐसी सुवर्ण–आभूषण स्त्री वगैरह वस्तुओंको उपभोग कहते हैं। यह भोगोपभोग नामा गुणव्रत भोगसे तथा कर्मसे दो प्रकारका होता है। उसमें भोगके दो भेद हैं। जो वस्तु एक दफा ही उपयोगमें ली जाती है, जैसे खाद्य पदार्थ एक ही दफा उपयोगमें आते हैं, वस इत्यादिको ही भोग कहते हैं। जो पदार्थ वारंवार शरीरके द्वारा उपयोगमें लेकर भोगे जाते हैं, जैसे वस्त्र, आभरण तथा स्त्री वगैरह, इसे उपभोग समझना। संसारमें भोगोपभोगकी वस्तुयें परिमित हैं, अतएव श्रावकको उन वस्तुओंके ग्रहण करनेमें नियमित परिमाण करना चाहिये। मुख्य वृत्तिसे उत्सर्ग मार्गमें तो श्रावकको सदैव अचित्त भोजी होना चाहिये, यदि ऐसा न वनसके तो सचित्त वस्तु वगैरहका परिमाण करना चाहिये। परिमाण करने योग्य वस्तुओंके कुछनाम नीचे लिखते हैं। सचित्त, द्रव्य, विगई, उपान, तांवूल, वस्त्र, पुष्प, वाहन, शय्या, विलेपन, ब्रह्मचर्य, दिशागमन, स्नान, भक्तपान, ये चौदह प्रकारके नियम श्रावकको प्रतिदिन करने चाहियें। सजीव वस्तुको सचित्त वस्तु कहते हैं और निर्जीव वस्तुको अचित्त वस्तु कहते हैं। समयको पाकर सचित्त वस्तु अचित्त और अचित्त वस्तु सचित्त हो जाती हैं। जैसे श्रावण तथा भाद्रव मासमें वगैर छना आटा पाँच दिन तक मिश्र रहता है। असौज तथा कार्तिक मासमें चार दिन तक मिश्र रहता है, मागशिर तथा पोष मासमें तीन दिन पर्यन्त मिश्र रहता है। महा तथा फागुनके मासमें पाँच पहर तक मिश्र रहता है। चैत्र तथा वैशाकके महीनेमें चार पहर तक मिश्र

रहता है। तथा जेठ और अशाढके महीनेमें केवल तीन पहर तक मिश्र रहता है। इस पूर्वोक्त समयके उपरान्त अचित्त होजाता है। यदि छाना हुआ हो तो एक मुहूर्त्तमात्र समयके बाद ही अचित्त हो जाता है। अचित्त होनेके वाद कितने समयके वाद वह खराव होता है, इस विषयमें हमने कहींपर लेख नहीं देखा, इस लिये हम कुछ नहीं कह सकते। मगर जब तक उसका वर्णादिक न वदले तव तक वह काममें आ सकता है। इसी तरह अन्य पदार्थोंमें भी सचित्ताचित्तका भेद समझ लेना। पानीके विषयमें सचित्ताचित्त, इस प्रकार समझना—ग्रीष्म ऋतुमें गरम किया हुआ पानी पाँच पहरके वाद सचित्त होता है, किन्तु गरम करते समय उसे तीन उबाल आने चाहियें। जाड़ेकी मौसममें चार पहरके वाद सचित्त हो जाता है। वर्षाकालमें तीन पहरके वाद सचित्त हो जाता है। समयमें फेर फार होनेके कारण वस्तुओंकी स्थितिमें भी फेर फार हो जाता है। गरमीकी मौसम अति रूक्ष होनेसे उस कालमें तीन उबाल द्वारा उष्ण किया हुआ प्रासुक पानी पाँच पहर तक प्रासुकतया ठहर सकता है। शीत कालका समय स्निग्ध होनेके कारण चार पहर तक ठहर सकता है और वर्षाकालका समय अति स्निग्ध होनेके कारण उस कालमें उष्ण किया हुआ प्रासुक जल केवल तीन पहर तक ही प्रासुकतया ठहर सकता है, उसके उपरान्त समय होनेपर वह सचित्त होजाता है। उपरोक्त वताई हुई मर्यादासे यदि अधिक समय तक उस पानीको रखना हो तो उसका काल वढ़ानेके लिये उसमें चुन्ना वगैरह डालना चाहिये। यह प्रस्तुत विषय भी वहुत वड़ा है, अतएव यहाँ पर हम इसे सविस्तर लिखना उचित नहीं समझते। यदि किसी जिज्ञासुको विशेष जाननेकी इच्छा हो तो प्रवचनसारोद्धार,

आदि ग्रंथोंसे जानलेवे ॥

तीसरा गुणव्रत अनर्थडंड विरमण नामक है। शरीर आदिके लिए जो कुछ पापारंभ किया जाता है, उसे अर्थडंड कहते हैं और विना ही प्रयोजन जो पर जीवोंको पीड़ा दी जाती है, उससे जो अपनी आत्मा डंडाती है, उसे अनर्थडंड कहते हैं।

उस अनर्थडंडके चार भेद होते हैं, आर्त्त-रौद्र अपध्यान, पापकर्मका उपदेश, हिंसा करनेमें मदद पहुँचानेवाली वस्तुका दान, तथा चौथा प्रमाद सेवन करना, यह चार प्रकारका अनर्थ-डंड कहा जाता है। आर्त्त और रौद्रध्यान, यह अपध्यान कहा जाता है, अर्थात् खराव अध्यावसायके अन्दर जो मनकी स्थिति या एकाग्रता होती है, उसे अपध्यान कहते हैं। यह अपध्यान छद्मस्थ अवस्थामें ही जीवोंको होता है। उसमें भी प्राय छठे गुणस्थान तक ही इसकी संभावना होती है,क्योंकि वहाँ तक जीवको प्रमाद दशा रहती है और ऊपरके गुणस्थानोंमें तो सदा काल अप्रमत्त दशामें रह कर जीव आत्मस्वरूपकी विचारणा या चिन्तवनमें ही रहता है। इस लिए पूर्वोक्त अपध्यान वगैरह सबही अनर्थडंडके अन्दर समझ लेना, किन्तु वाकीके पापकर्मका उपदेश करना, हिंसामें मदद करनेवाली वस्तुका दान करना तथा प्रमाद आचरण करना इन तीन भेदोंका स्पष्टार्थ होनेसे यहाँ पर विस्तार नहीं लिखा है ॥

अब चार शिक्षाव्रतोंका स्वरूप लिखते हैं.

चार शिक्षाव्रतोंमें प्रथम सामायिक नामक शिक्षाव्रत है, सो किस तरह और कैसे मनुष्यको वह सामायिक प्राप्त होता है, इसके विषयमें शास्त्रकार फरमाते हैं—मुहूर्त्तावधि सावद्य व्यापार-परिवर्जनम्। आद्यं शिक्षाव्रतं सामायिकं स्यात्समताजुषाम् ॥ १ ॥

अर्थ—एक मुहूर्त्तपर्यन्त सावद्य याने पापसहित व्यापारका परित्यागरूप प्रथम सामायिक नामक शिक्षाव्रत समताधारी मनुष्योंको होता है। सामायिकका अर्थ इस तरह समझना कि रागद्वेष रहितताको सम कहते हैं, अर्थात् राग द्वेषके अन्दर समानता भाव धारण करना, उसे सम कहते हैं। उस समभावमें आय नाम जो ज्ञानादि गुणकी प्राप्ति होती है, उसे सामायिक कहते हैं। अथवा सम, याने प्रतिक्षण ज्ञानादिक अपूर्व पर्याय जोकि अपने प्रभावसे चिन्तामणिं तथा कल्पतरुके प्रभावका भी तिरस्कार करता है और जो निरुपम सुखका हेतु भूत है, उसके साथ जिसकी योजना हो, अर्थात् उस ज्ञानादिके साथ जिसका संवन्ध हो उसे समाय कहते हैं और वह समाय जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं। यह पूर्वोक्त सामायिक मन-वचन-काया संवन्धि सावद्य व्यापारके परित्याग विना नहीं हो सकता। सामायिक व्रतके मुख्य तीन भेद हैं, जिसमें प्रथम सम्यक्त्व सामायिक है, दूसरा श्रुतसमायिक और तीसरा चारित्रसामायिक है। उसमें भी चारित्रसामायिक दो प्रकारका है, एक तो गृहस्थ संवन्धी और दूसरा अनागारिक, याने मुनिसंवन्धी।

पहला जो सम्यक्त्व सामायिक है, वह उपशमादि भेदोंसे पाँच प्रकारका है। दूसरा श्रुतसामायिक द्वादशांगीरूप है, तीसरा दो प्रकारका जो चारित्र सामायिक है, वह एक तो देशविरति सामायिक और दूसरा सर्वविरति, याने सर्व सावद्यका परित्याग तथा पंच महाव्रतरूप है। पूर्वोक्त सर्वविरति चारित्र सामायिक सर्व द्रव्यविषयिक होता है। शास्त्रमें भी कहा है—पढमंमि सव्वजीवा, वीए चरमेय सव्वदव्वाइं। सेसामहव्वया खलु, तादिक देसेण दव्वाणं॥ १॥ अर्थ—पहले व्रतमें सर्व जीवद्रव्य आता है, दूसरे तथा पाँचवेंमें

सर्वद्रव्य याने छः ही द्रव्योंका समावेश होता है और बाकीके तीसरे तथा चौथे व्रतमें द्रव्यका एक एक देश आता है। पहले महाव्रतको सर्व सूक्ष्म बादर जीवोंका परिपालनरूप होनेके कारण उसमें केवल एक जीवद्रव्य ही आता है। दूसरे तथा पाँचवें महाव्रतमें सर्व द्रव्योंका समावेश इस प्रकार समझना—यह पंचास्तिकायात्मक लोक किसने देखा है? यह तो ऐसे ही झूठमूठ बात है। ऐसे वचन बोलनेके परित्यागसे छः ही द्रव्योंका संबन्ध दूसरे महाव्रतमें आजाता है। पाँचवें महाव्रतमें अति मूर्च्छाके वश होकर ऐसा विचार करे कि मैं सर्वलोकका स्वामी बनूँ तो ठीक हो। इस तरहकी जो सर्व द्रव्यविषयक मूर्च्छा है, उसका परित्यागरूप पाँचवाँ परिग्रह विरमण महाव्रत होनेसे उसमें भी छः ही द्रव्योंका समावेश हो जाता है। बाकीके दो महाव्रत द्रव्यके एक एक देशवाले हैं, अर्थात् कोई भी द्रव्य मालिकके विना दिये रखना या ग्रहण करना वह पुद्गल द्रव्यका एक देश होता है। उसका परित्यागरूप अदत्तादान विरमण नामक तीसरा महाव्रत कहा जाता है।

स्त्रीका रूप तथा उसके साथ रहा हुआ जो द्रव्य है, तत्संबन्धि मोहका परित्याग करना, सो अब्रह्मविरतिरूप चतुर्थ महाव्रत है। इसमें भी द्रव्यका एक ही देश आता है। आहार द्रव्यविषयक छठा रात्रिभोजन त्यागरूप व्रत है, उसमें भी द्रव्यका एक ही देश समाता है। इस प्रकार चारित्र सामायिक सर्व द्रव्यविषयिक समझना। ऐसे ही श्रुतसामायिक ज्ञानरूप होनेसे सर्व द्रव्यविषयिक है, तथा इसी प्रकार सम्यक्त्व सामायिक सर्व द्रव्योंकी श्रद्धारूप होनेके कारण वह भी सर्व द्रव्यविषयिक होता है। इस सामायिकको एक जीव संसारअटवीमें परिभ्रमण करता हुआ संख्य

असंख्य वार प्राप्त करता है। जोकि शास्त्रमें फरमाया है—सम्मत्तदेस विरया, पलीयस्स असंख भागमित्ताउ। अट्ठभवाउ चरित्ते, अणंत कालं सुअसमए ॥ १ ॥

अर्थ—अनादि कालसे संसारमें परिभ्रमण करता हुआ एक भव्य जीव जव तक मोक्ष प्राप्त न करे तव तक तमाम संसारमें सम्यक्त्व सामायिक और देशविरति सामायिक, इन दो सामायिकको क्षेत्रपल्योपमके असंख्यातवें भागमें जितनें आकाश प्रदेशोंका समावेश हो सकता है, उतने ही भवों तक प्राप्त कर सकता है। शास्त्रमें असंख्यके भी असंख्य भेद वताये हैं, अतः पूर्वोक्त प्रमाणवाले असंख्य भवों तक भव्य जीव सम्यक्त्व सामायिक और देशविरति सामायिकको प्राप्त करता है। किन्तु यह पूर्वोक्त परिमाण उत्कृष्टतया समझना। जघन्य (कमसे कम) तो एक ही भवमें प्राप्त करके मोक्षपद पा सकता है।

चारित्र (सर्वविरति) सामायिक भव्य प्राणी उत्कृष्टतया आठ भवों तक प्राप्त कर सकता है, इसके वाद मुक्तिपद प्राप्त करता है। परन्तु जघन्यतया तो मरुदेवीके समान एक भवमें ही प्राप्त करके सिद्धि गति पा सकता है। सामान्यतया श्रुतसामायिकको जीव अनन्त भवों तक याने अनन्त भवोंमें प्राप्त करता है, पर कमसे कम यहां भी पूर्वके समान ही एक भवमें प्राप्त करके मरुदेवीके समान मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अल्प श्रुतसामायिकका लाभ अभव्य जीवको भी होता है और वह ग्रैवेयक देवलोक तक रहता है। अन्तरद्वारमें जो कहा है कि कोई एक जीव अक्षर ज्ञान प्राप्त करके पतित होकर पीछे अनन्त काल वाद प्राप्त करता है, सो वह उत्कृष्ट अन्तर समझना चाहिये। समकितादि सामायिकमें कमसे कम तो अन्तरमुहूर्त्त कालका और अधिकसे

अधिक देशऊणा अर्ध पुद्गलपरावर्तका अन्तर समझना । इसमें जो उत्कृष्ट अन्तर बताया है वह देव-गुरु-धर्मकी अतीव आशातना करनेवाले जीवके लिये समझना । पूर्वोक्त भेदोंवाला सामायिक सर्वगुणोंका आधार भूत है । जिस प्रकार आधारके विना आधेय नहीं ठहर सकता, वैसे ही सामायिक विन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रादि गुण नहीं ठहर सकते । अर्थात् सम्यग्ज्ञानादि गुण सामायिकको ही आश्रय करके रहते हैं । यह पूर्वोक्त सामायिक व्रत जीवोंको अशुभ कर्मके नष्ट होने पर प्राप्त होता है ।

अब दूसरा शिक्षा व्रत कहते हैं.

देशावकाशिक नामा दूसरा शिक्षा व्रत है । इस व्रतमें गमनागमनका दिशाओं संवन्धि नियम किया जाता है, अर्थात् इस व्रतको धारण करनेवाला मनुष्य प्रातः काल उठ कर गमनागमनके लिये दिशाओंका परिमाण करे कि अमुक दिशामें अमुक योजन या अमुक कोसों तक अमुक दिशामें अमुक हद तक ही आना जाना खुला है, उस हदसे आगे नहीं जा सकता । याने जितनी दिशायें जितने परिमाणसे रक्खी हों उन दिशाओंमें नियमित मर्यादासे उपरान्त नहीं जा सकता । इस प्रकार पूर्वोक्त व्रतका प्रातःकालमें नियम धारण करके फिर उस नियमको संध्या समय संक्षिप्त करे, अर्थात् जितने समय तकका वह नियम किया हो, उतने समय वाद उपयोग पूर्वक उस व्रतको अवश्य स्मृतिमें लावे । यदि रात्रिसंवन्धि किया हो, तो प्रातःकाल और यदि दिन संवन्धि किया हो, तो संध्यासमय उसे जरूर उपयोग पूर्वक याद करना चाहिये । इस व्रतको धारण करनेसे जो लाभ होता है, सो तो हम प्रथम ही संक्षेपसे लिख आये हैं ॥

तीसरा शिक्षा व्रत पौषध नामक है।

संस्कृतमें पुष् धातु पुष्टी करने अर्थमें आता है, उसी पुष् धातुसे यह पौषध शब्द बनता है। जो धर्ममें पुष्टी करे उसे पौषध कहते हैं। पौषध व्रत अष्टमी चतुर्दशी वगैरह पर्वके दिनोंमें पांचवें गुणस्थानवाले मनुष्यको अवश्य ग्रहण करना चाहिये। इस पौषध व्रतके चार भेद होते हैं, तथा उन चारोंमें भी प्रत्येकके दो दो भेद होते हैं। इसका विशेष विवेचन आवश्यक सूत्रकी निर्युक्ति-वृत्ति तथा चूर्णिकामें लिखा है। आहार पौषध दो प्रकारका इस तरह समझना, एकतो देशसे और दूसरा सर्वसे। अमुक वस्तुका त्याग करना, छः विगयके अन्दरसे कोई एक विगयको त्याग देना या आयंबिल वगैरह प्रत्याख्यान करके एक ही दफा रुक्षान्नका आहार करना, सो भी सचित्त रहित, या एक आसन पर वैठकर दिनमें एक दफा ही प्रासुक अन्नोदक स्थिरचित्त होकर ग्रहण करना, इसे देशसे आहार पौषध कहते हैं। रात दिन-आठों ही पहर चार प्रकारके आहारका सर्वथा परित्याग करना, इसे सर्वसे आहार पौषध कहते हैं। शरीरसत्कार पौषधके भी दो भेद हैं, अमुक स्नान विलेपनका त्याग करना वह देशसे और सर्वथा स्नान विलेपन—मर्दन तथा पुष्पमाला वगैरह शरीरकी सुश्रूषा संवन्धि वस्तुओंका परित्याग करना, इसे सर्वसे शरीरसत्कार पौषध व्रत कहते हैं। ब्रह्मचर्य पौषध भी पूर्वोक्त रीतीसे दो प्रकार-वाला है, रात्रि संवन्धि या दिन संवन्धि मैथुनका त्याग करना इसे देशसे और रात-दिन आठों ही पहर सदाके लिए सर्वथा मैथुनका परित्याग करके त्रिकरण विशुद्धिसे जो ब्रह्मचर्यका परि-पालन है, उसे सर्वसे ब्रह्मचर्य पौषध व्रत कहते हैं। अव्यापार पौषध भी इसी तरह समझना, अमुक व्यापारका त्याग करना या अमुक

दिनोंके लिये व्यापारको त्यागना, उसे देशसे और सर्वथा ही व्यापारका परित्याग करके धर्मकृत्यमें प्रवृत्ति करना, उसे सर्वसे अव्यापार पौषध कहते हैं ॥

अब चौथे शिक्षा व्रतका स्वरूप लिखते हैं।

चौथा शिक्षाव्रत अतिथिसंविभाग नामक है। जो गृहस्थी अपने घरपर अन्नोदककी सामग्री तयार होने पर प्रथम अतिथिको दान देकर पीछे आप भोजन करता है, उसे अतिथिसंविभाग नामक चौथा शिक्षा व्रत कहते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त नियमको अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं। अब रही यह बात कि अतिथि किसको कहना, सो जिस महात्माने तिथि पर्व वगैरहको त्याग दिया है, उसे अतिथि कहते हैं, अर्थात् संसार संबन्धि तिथि पर्वोंको त्यागनेवाला महात्मा अतिथि कहाता है। अथवा हीरा–माणक–सुवर्ण धन धान्यादिका लोभ जिसने सर्वथा त्याग दिया है, उसे अतिथि कहते हैं। पूर्वोक्त प्रकारका अतिथि संसारको त्यागनेवाला साधु सन्त ही हो सकता है और इसके अलावे जो कोई भोजनार्थी गृहस्थके द्वार पर आता है, उसे अभ्यागत कहते हैं। पूर्वोक्त अतिथि महात्माको जो वैतालीस दोष रहित श्रेष्ठ आहार विशेष भक्तिपूर्वक दिया जाता है, उसे ही अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं। पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावकको चाहिये कि जिस वक्त भोजनका समय हो उस वक्त भक्तिपूर्वक सर्वविरतिधारी अतिथि साधु सन्तको निमंत्रण करके अपने घर पर लावे और यदि साधु महात्मा खुद ही अपनी इच्छासे स्वतः अपने मकान पर आ गया हो तो उसे देख शीघ्र ही उठकर उसके सन्मुख गमनादिक विनयसे पेस आवे। इसके बाद विनय तथा विवेकसे स्पर्धा, मत्सर, महत्ता, स्नेह, लिहाज, भय, दाक्षिण्यता, प्रत्युपकारकी इच्छा, माया

(कपट) विलंव, अनादर, तथा पश्चात्ताप वगैरह दानके दोषोंसे रहित विशुद्धमान आहार एकान्त आत्मकल्याणकी बुद्धिसे अपने हाथमें पात्र लेकर देवे, या पास खड़ा होकर अपनी स्त्री वगैरहके द्वारा दिलावे। इस प्रकारका दिया हुआ दान महाफल प्रदायक होता है। साधुको दान दिए वाद फेटावन्दन करके अपने घरसे वाहर दश पाँच कदम तक साधु महात्माके साथ जावे, वल्कि आवश्यक निर्युक्तिकी वृत्तिमें तो ऐसा लिखा है कि सामाचारी श्रावकको तो अवश्य ऐसा करना चाहिये कि पौषध व्रतको पार-कर साधु सन्तको अन्नोदकका दान देकर पीछे अपना प्रत्याख्यान पारे मगर अन्य श्रावकके लिये यह उत्कृष्ट विधि न समझना।

दोष रहित विशुद्ध दान मनुष्योंको मनोवांछित फलके देने-वाला होता है, अतः जहाँ तक वन सके सर्व दोषों रहित दान देना चाहिये। दान संवन्धि दोष पिण्ड निर्युक्ति वगैरह ग्रंथोंसे जान लेने चाहियें।

वारह व्रतोंका विशेषार्थ ॥

पूर्वोक्त वारह व्रतोंके व्यवहार और निश्चय नयसे प्रत्येकके दो दो भेद समझने। दूसरे जीवको अपने जीवके समान समझ कर उसकी हिंसा न करे उसे किसी प्रकारकी भी पीड़ा न पहुँ-चावे, इसे व्यवहारसे प्रथम व्रत कहते हैं और यह जीव अन्य जीवोंकी हिंसाद्वारा कर्मवन्ध करके दुःखका भोगी वनता है, अतएव आत्माके साथसे कर्मादिकका वियोग करना योग्य है। तथा यह आत्मा अनेक स्वाभाविक गुणवाली है, अतः हिंसादिकके द्वारा कर्म ग्रहण करनेका इसका धर्म नहीं है। इस प्रकार ज्ञानबुद्धिसे हिंसाका त्यागरूप आत्मगुणको ग्रहण करनेका निश्चय करना, इसे निश्चय नयकी अपेक्षा प्रथम व्रत कहते हैं।

लोक निन्दित असत्य भाषणसे निवृत्त होना, इसे व्यवहारसे दूसरा व्रत कहते हैं और त्रिकालज्ञानी सर्वज्ञदेवका कथन किया हुआ जीव अजीवका स्वरूप, उसे अज्ञानवश विपरीत कथन करना तथा पौद्गलिक परवस्तुको आत्मीय कहना यह सरासर मृषावाद है, अतः इस प्रकारके मृषावादसे निवृत्त होना, इसे दूसरा व्रत निश्चय नयकी अपेक्षासे समझना चाहिये। इस पूर्वोक्त व्रतके सिवाय दूसरे व्रतोंकी यदि विराधना हो जाय तो उसका चारित्र नष्ट हो जाता है, किन्तु ज्ञान दर्शन, ये दो कायम रहते हैं, मगर दूसरे व्रतकी विराधना होनेसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र, ये तीनों ही चले जाते हैं। इस विषयमें शास्त्रकार यहाँ तक फरमाते हैं कि एक साधुने मैथुन विरमण महाव्रत खंडित किया है और एकने दूसरा मृषावाद विरमण महाव्रत खंडित किया है। उन दोनों साधुओंमेंसे पहला साधु दंड प्रायश्चित्तके द्वारा शुद्ध हो सकता है, परन्तु दूसरा साधु सर्वज्ञदेवके स्याद्वाद मार्गका उत्थापक होनेसे आलोचना प्रायश्चित्तादिकसे शुद्ध नहीं हो सकता।

अदत्त परवस्तु धनादिकको न ग्रहण करना उसका प्रत्याख्यान करना, उसे व्यवहार नयसे तीसरा व्रत कहते हैं। द्रव्यसे परवस्तु ग्रहण न करनेके उपरान्त अन्तःकरणमें पुण्यतत्त्वके बैतालीस भेद प्राप्त करनेकी इच्छासे धर्मकार्य करता हुआ और पाँच इन्द्रियोंके तेईस विषय, तथा कर्मकी आठ वर्गणायें वगैरह परवस्तु ग्रहण करनेकी इच्छा तक भी नहीं करना, उन वस्तुओंका नियम करना। इसे निश्चयकी अपेक्षा तीसरा व्रत समझना।

श्रावकको स्वदारा संतोष और पर स्त्रीका परित्याग तथा साधु मुनिराजको सर्व स्त्री मात्रका परित्याग, यह व्यवहारसे

चतुर्थ व्रत कहाता है। विषयका अभिलाष, ममत्व और तृष्णाका परित्यागरूप निश्चयसे चतुर्थ व्रत कहाता है। निश्चय नयकी अपेक्षा यहाँ पर इतना और समझ लेना कि जिसने स्त्रीका त्याग किया है और अन्दरसे फिर उस विषयकी लोलुपता रखता है, तो अवश्यमेव उसे तत्संबन्धि कर्मबन्ध होता है, जब तक वह अपने मनका उस विषयसे निरोध न करे तब तक उसे उस व्रतसे जो लाभ प्राप्त होना था, उससे वह वंचित रहता है।

श्रावकको नव प्रकारके परिग्रहका परिमाण करना और साधुको सर्व परिग्रहका त्याग करना, यह व्यवहारसे पाँचवाँ व्रत है। भावकर्म जो राग द्वेष, अज्ञान तथा आठ प्रकारके द्रव्यकर्म, और देहकी मूर्छा तथा पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंका परित्यागरूप निश्चयसे पाँचवाँ व्रत समझना चाहिये। कर्मादिक परवस्तुकी मूर्छाका परित्याग करनेसे ही निश्चयसे पाँचवाँ व्रत हो सकता है, क्योंकि शास्त्रमें मूर्छाको ही परिग्रह कहा है, यथा मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।

दिशाओंमें आनेजानेका परिमाण करना, यह व्यवहारसे छठा व्रत कहाता है और नरकादि गतिरूप कर्मके परिणामको जान कर उस तर्फ उदासीन भाव रखना तथा सिद्ध अवस्थाकी ओर उपादेय भाव रखना, इसे निश्चयसे छठा व्रत समझना। प्रथम कहे मुजब भोगोपभोग व्रतमें सर्व भोग्य वस्तुओंका परिमाण करना, यह व्यवहारसे सातवाँ व्रत है। व्यवहार नयकी अपेक्षा कर्मका कर्ता तथा भोक्ता आत्मा ही है और निश्चय नयसे कर्मका कर्तापना कर्मको ही है, क्योंकि मन वचन कायका योग ही कर्मका कर्ता है, एवं भोक्तापना भी योगमें ही रहा हुआ है। अज्ञानतासे आत्माका उपयोग मिथ्यात्वादि कर्म ग्रहण करनेके साधनमें मिल जाता है, किन्तु परमार्थ वृत्तिसे आत्मा कर्मपुद्गलोंसे

भिन्न ही है। आत्मा ज्ञानादि गुणोंका आविर्कर्ता और भोक्ता है। संसारमें जितने पौद्गलिक पदार्थ हैं, वे जगत्वासि अनेक जीवोंके भोगे हुए हैं, अतएव विश्वभरके तमाम पदार्थ उच्छिष्ट भोजनके समान हैं। उन पुद्गलोंको भोगोपभोग तथा ग्रहण करनेका आत्माका धर्म नहीं। इस तरहसे जो अन्तःकरणमें चिन्तवन किया जाता है, उसे निश्चय नयसे सातवाँ व्रत समझना चाहिये।

प्रयोजन विना पापकारी आरंभसे निवृत्त होना, इसे व्यवहार नयसे आठवाँ अनर्थदंड विरमण व्रत कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और मन-वचन-कायके योग, इन चारोंके उत्तर भेद सत्तावन होते हैं। आत्माको मलीन करनेवाले कर्मोंका आगमन इन पूर्वोक्त हेतुओंसे ही होता है और कर्मोंके जरीयेही आत्मा विभाव दशाको प्राप्त होती है, अतः पूर्वोक्त कर्म वन्धनके हेतुओंको त्यागना, इसे निश्चय नयसे अनर्थदंड विरमण नामक आठवाँ व्रत समझना।

आरंभ कार्यको छोड़कर जो सामायिक किया जाता है, उसे व्यवहारसे नववाँ व्रत कहते हैं। ज्ञानादि मुख्य सत्ता धर्मके द्वारा सर्व जीवोंको समान समझकर उन जीवोंपर समता परिणाम रखना, यह निश्चयसे नववाँ सामायिक व्रत समझना।

नियमित स्थानमें स्थिति करना, यह व्यवहारसे दशवाँ व्रत कहाता है। श्रुतज्ञानके द्वारा छः द्रव्योंका स्वरूप समझकर पाँच द्रव्योमें त्याग बुद्धि रखकर ज्ञानमय आत्माका ध्यान करना, इसे निश्चयसे दशवाँ देशावकाशिक व्रत कहते हैं।

अहोरात्रि (रातदिन) सावद्य व्यापारका परित्याग करके स्वाध्याय ध्यानमें प्रवृत्त होना, यह व्यवहारसे ग्यारहवाँ व्रत समझना, ज्ञानध्यानादिके द्वारा आत्मीय गुणोंका पोषण करना.

इसे निश्चयसें ग्यारहवाँ पौषध व्रत कहते हैं। पौषध पार कर अथवा हमेशहके लिए साधु महाराजको या किसी विशिष्ट गुण-धारी श्रावकको अतिथिसंविभाग करके दान देकर भोजन करना, इसे व्यवहारसे अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं और अपनी आत्माको तथा अन्यको ज्ञान दान करना, पठन, पाठन, श्रवण, श्रावण वगैरह निश्चय नयसे बारहवाँ अतिथिसंविभाग नामक व्रत कहा जाता है। पूर्वोक्त निश्चय और व्यवहार भेदों सहित ये बारह व्रत पाँचवें गुणस्थानमें रहे हुए श्रावकको मुक्तिफल प्रदायक होते हैं, किन्तु केवल व्यवहारसे ही ग्रहण किये हुए देवलोकादि सुखको प्राप्त कराते हैं॥

पाँचवें गुणस्थानमें रहनेवाले श्रावकको ग्यारह प्रतिमा धारण करनी चाहियें, अतः संक्षेपसे प्रतिमाओंका स्वरूप लिखते हैं। प्रतिमा—ये तप विशेषका अभिग्रहरूप होती हैं। सर्व विरतिको धारण करनेवाले साधु मुनिराजों संबन्धि बारह प्रतिमा होती हैं और देशविरति धारण करनेवाले श्रावक लोगोंको ग्यारह प्रतिमा होती हैं।

श्रावककी पहली सम्यत्त्व प्रतिमा है, सो एक मास संबन्धी होती है, श्रावक एक मास तक सम्यत्त्व विशुद्ध रखकर त्रिकाल देव पूजन करे, उभयकाल आवश्यक क्रिया करे, अन्य तीर्थियोंको वन्दन नमस्कार न करे, तथा उनके साथ आलाप संलाप दान अनुप्रदान वगैरह वर्जकर एक मास पर्यन्त एक दफा ही भोजन करे। इस प्रकार करनेसे एक मासकी पहली प्रतिमा समाप्त होती है। दूसरी व्रत प्रतिमा दो मास परिमाणवाली है। पूर्वोक्त ही विधि सहित अनुकंपादि गुण युक्त और शंकादि दोष रहित पूर्वोक्त अणुव्रतादि बारह व्रतोंको निरतिचारतया पाले। यह दूसरी

प्रतिमा समझनी । तीसरी प्रतिमा तीन मासकी होती है, तीन मासतक पूर्वोक्त गुण सहित सामायिक व्रत अधिकाधिक ग्रहण करे। चौथी पौषध प्रतिमा चार मासकी है, पूर्वोक्त गुण युक्त अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या वगैरह पर्व दिनोंमें निरतिचारपणे पौषध व्रत उपवास करके धारण करे। पाँचवीं कायोत्सर्ग प्रतिमा पाँच मासकी है, सम्यक्त्व सहित बारह व्रत विशुद्धतया पाले, चार प्रकारका रात्रि भोजन न करे, धोतीकीं लांग खुली रक्खे, दिन संबन्धि ब्रह्मचर्यका पालन करे, पर्व दिनोंमें पौषधव्रत ग्रहण करे और पूर्वोक्त विधियुक्त वीतराग देवका ध्यान धर कर कायोत्सर्ग करे । छठी ब्रह्मचर्य प्रतिमा है, पूर्वोक्त गुणों सहित रात दिन छः मास पर्यन्त विशुद्ध ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करे तथा ब्रह्मचर्य व्रतकी नव वाड़ोंको भली प्रकारसे पाले, शृंगार रसकी कथायें और स्त्रीका संसर्ग सर्वथा न करे। सातवीं सचित्त आहार वर्जन रूप प्रतिमा सात मासकी है, पूर्वोक्त गुण युक्त सचित्त अशन, पान, खादिम और स्वादिम, यह चार ही प्रकारका अशन ग्रहण न करे। आठवीं आरंभ वर्जन प्रतिमा आठ मासकी है, पूर्वोक्त गुणों युक्त श्रावक आजीविका निमित्त स्वयं आरंभ न करे किन्तु अन्यसे करानेमें उसे वाधा नहीं । नवमी प्रेष्य प्रतिमा नव मास सबंन्धिनी है, पूर्वोक्त सर्व विधि युक्त श्रावक, आप स्वयं आरंभ न करे और अन्यसे भी न करावे किन्तु उसके लिये किसी वस्तुका आरंभ किया गया हो तो वह उसे ग्रहण करे। दशवीं भी आरंभ प्रतिमा है, वह दश मास संबन्धिनी है, पूर्वोक्त प्रतिमासे इसमें इतना विशेप समझनेका है कि उसके लिके किसी वस्तुका आरंभ किया गया हो तो वह वस्तु उसे नहीं कल्प सकती। ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा ग्यारह मा-

सकी है, श्रमण नाम साधुका है, अतः साधुके समान सिर मुंडक मुंडा करके किन्तु सिरपर चोठी जरूर रक्खे, हाथमें पात्र लेकर अपने स्वजन संबन्धि कुटुंबियोंमेंसे आधाकर्मी आदि दोषोंसे रहित शुद्धमान आहारपानी ग्रहण करे, किन्तु साधु लोगोंके समान धर्मलाभ आशीर्वाद न दे।

ये पूर्वोक्त श्रावककी ग्यारह प्रतिमा पाँच वर्ष और छः मासमें पूर्ण होती हैं। पूर्वमें कथन किये हुए छः कृत्य, वारह व्रत और ग्यारह प्रतिमा वगैरह नियमोंको धारण करनेवाला पंचम गुणस्थानी श्रावक सर्वविरतिके योग्य होता है। इस देशविरति पाँचवें गुणस्थानमें रहा हुआ जीव अप्रत्याख्यानीय चार कषाय, मनुष्यत्रिक, वज्रऋषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, इन दश कर्म प्रकृतियोंके वन्धका अभाव होनेसे ६७ सड़सठ प्रकृतियोंका वन्ध करता है। अप्रत्याख्यानीय चार कषाय, मनुष्य अनुपूर्वी, तिर्यंच अनुपूर्वी, नरकत्रिक, देवत्रिक, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, दुर्भग नामकर्म, अनादेय नामकर्म और अपयश नामकर्म, इन १७ सतरह कर्म प्रकृतियोंका अभाव होनेसे इस गुणस्थानवाला जीव ८७ सतासी प्रकृतियोंको वेदता है और १३८ एकसौ अड़तीस कर्म प्रकृतियोंका सत्तामें रखता है।

॥ पाँचवाँ गुणस्थान समाप्त ॥

अब आगेके सात गुणस्थानोंकी समानता बताते हैं।

अतःपरं प्रमत्तादि, गुणस्थानकसप्तके।
अन्तर्मुहूर्त्तमेकैकं, प्रत्येकं गदिता स्थितिः ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ–अबसे आगेके सात गुणस्थानोंकी प्रत्येककी अन्तर्मुहूर्त्तकी स्थिति कही है।

व्याख्या–देशविरति गुणस्थानके बाद प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय, उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान, इन पूर्वोक्त सातों गुणस्थानोंकी प्रत्येककी एक एक अन्तर्मुहूर्त्त उत्कृष्ट स्थिति समझना ॥

अब छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थानका स्वरूप लिखते हैं।

कषायाणां चतुर्थानां, व्रती तीव्रोदये सति।
भवेत्प्रमाद युक्तत्वात्, प्रमत्त स्थानगो मुनिः ॥२७॥

श्लोकार्थ–व्रतोंको धारण करनेवाला मुनि, चौथे कषायोंका तीव्रोदय होनेपर प्रमाद युक्त होनेसे प्रमत्त गुणस्थानमें रहनेवाला होता है ॥

व्याख्या–प्राणातिपात विरमणादि पाँच महाव्रतरूप सर्वविरतिको धारण करनेवाला साधु–मुनिराज, संज्वलन नामक कषायोंका तीव्रोदय होनेसे प्रमाद युक्त होनेके कारण प्रमत्त गुणस्थानमें स्थिति करता है। प्रमाद पाँच प्रकारका होता है, मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा, यह पाँच प्रकारका प्रमाद ही जीवोंको संसार समुद्रमें डालता है। जब पूर्वोक्त संज्वलनादि कषायोंका महाव्रती मुनिराजको तीव्रोदय होता है, तब वह अवश्य ही प्रमाद युक्त होनेसे प्रमत्त गुणस्थानमें ही अन्तर्मुहूर्त्त काल तक

स्थिति करता है और यदि अन्तर्मुहूर्त कालसे प्रमाद युक्तावस्थामें उपरान्त काल हो जाय तो तब वह प्रमत्त गुणस्थानसे भी नीचे गिर जाता है । जब अन्तर्मुहूर्त कालसे अधिक समय तक प्रमाद रहित अवस्थामें स्थिति होती है, तब वह महात्मा ऊपरके सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ़ जाता है, किन्तु छठे गुणस्थानमें सदा-काल स्थित नहीं रहता ॥

प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ध्यानकी संभावना है, अतएव अब ध्यानका स्वरूप लिखते हैं—

अस्तित्वान्नो कषायाणामत्रार्त्तस्यैव मुख्यता ।
आज्ञाद्यालम्बनोपेतधर्मध्यानस्यगौणता ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें नोकषायोंका अस्तित्व होनेसे आर्त्त ध्यानकी ही मुख्यता है और आज्ञा आदि आलंबनों सहित धर्म ध्यानकी गौणता है ॥

(आर्त्तध्यान).

व्याख्या—संसार अटवीमें तमाम सकर्मी जीव अनादिकालसे परिभ्रमण करते हैं और जीवोंको परिभ्रमण करानेवाले केवल कर्म ही हैं । कर्म शुभ और अशुभ दो प्रकारके होते हैं । किसी समय जीवको शुभ कर्मका अधिक संयोग और अशुभ कर्मका अधिक वियोग हो जाता है । जब जीवको अशुभ कर्मका अधिक वियोग और शुभ कर्मका अधिक संयोग होता है, तब उन शुभ कर्मकी प्रकृतियोंको यह जीव देवलोकादि शुभ गतियोंमें भोगता है और जब शुभ कर्मका अधिक वियोग होकर अशुभ कर्मका अधिक संयोग होता है, तब यह जीव उन अशुभ (पाप) कर्म प्रकृतियोंको नरकादि अशुभ गतियोंमें जा कर भोगता है । पूर्व-

कृत शुभाशुभ कर्मका उदय होने पर जीवके हृदयमें जो अप्रशस्त संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं, उसे शास्त्रकार आर्त्तध्यान कहते हैं।

आर्त्त ध्यानके चार भेद होते हैं, प्रथम भेद अनिष्टसंयोग नामा है। आत्माने शरीर, स्वजन संवन्धी, कुटुंबी, सौना चाँदी वगैरह धन संपत्ति, गेहूं चावल धान्यादि, गाय, वैल, हाथी, घोड़े, गाड़ी, बाड़ी, लाड़ी, दुकान, मकान वगैरहको सुखका साधन मान लिया है, इसीसे इन पूर्वोक्त वस्तुओंका नाश करनेवाले हेतु, व्याघ्र, सिंह, सर्प वगैरह, चोर, शत्रु, राजा आदि मनुष्य, नदी समुद्रादि जल स्थान, अग्नि, तीर, तलवार शस्त्रादि, और भूत प्रेत व्यन्तर देवादि, इन पूर्वोक्त भयंकर वस्तुओंका नाम श्रवण करनेसे तथा कितनी एक दफा तो अपने मन माने सुखका नाश करनेवाली भयंकर वस्तुओंके याद होनेसे या उसका संयोग होनेसे मनमें जो संकल्प विकल्प होता है, उन अनिच्छित वस्तुओंके वियोगकी इच्छा होती है, अर्थात् उस वक्त हृदयमें जो यह विचार होता है कि किसी भी तरहसे यदि इन अनिष्ट वस्तुओंसे मेरा पीछा छूटे तो मुझे कुछ आनन्द मिले। इत्यादि संकल्प विकल्पकी परंपराको शास्त्रकार आर्त्त ध्यानका अनिष्टसंयोग नामक प्रथम भेद कहते हैं ॥

आर्त्त ध्यानका दूसरा भेद इष्टसंयोग नामक है। इच्छित और प्रिय राज्य सत्ता मिले, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव, मांडलिक और सामान्य राज्योंकी समृद्धि मिले, युगलियोंका अखंड सौभाग्य सुख मिले, मुख्य प्रधान मंत्रीपदकी प्राप्ति हो, श्रेष्ठ सेनापतिका अधिकार मुझे मिले और मनुष्य तथा देव संवन्धि नव योवनवती स्त्रियोंके साथ विषय सुख भोगनेका अवसर मिले, पलंग वगैरह सुकोमल स्पर्शवाली सुख शय्या तथा हाथी-घोड़े-

रथ–गाड़ी वगैरहकी सवारी प्राप्त हो, हिना, केवडा, गुलाव, मोगरा, अतर फुलेल आदि सुगन्धित पदार्थोंकी प्राप्ति हो। सौना चाँदी रत्न वगैरह उत्तम धातुओंके अच्छे अच्छे मुझे आभूषण पहरनेको मिलें, रेशमी या जरीके वहु मूल्यवाले और भारमें हलके वस्त्र शरीरमें पहनकर वालोंको तेल लगाकर ठीक ठाक करके जंटलमैन वनके अपनी शोभा दूसरोंको दिखलाऊँ। मनुष्यके हृदयमें जो ये पूर्वोक्त विचार उत्पन्न होते हैं यह केवल मोहनीय कर्मका ही प्रभाव है, मोहनीय कर्मके उदय होनेसे ही पूर्वोक्त वस्तुओंका भोग भोगनेकी तीव्र इच्छा होती है। पूर्व जन्ममें किये हुए सुकृतके प्रभावसे पूर्वोक्त सर्व पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर उन वस्तुओंका उपभोग करते समय अन्तःकरणमें जो सुख और आनन्द पैदा होता है, उस आनन्दसे मनमें जो ऐसा विचार आता है कि मैं सर्व मनोवांच्छित सुखको भोगनेवाला हूँ। उन मनइच्छित पदार्थोंको भोगते हुए अनुमोदना करते हुए मुखसे जो स्वाभाविक आनन्दके उद्गार निकलते हैं तथा मन ही मन जो विचार होते हैं, इन सवको तत्वज्ञानी पुरुषोंने आर्त्त ध्यानका इष्टसंयोग नामक दूसरा भेद फरमाया है। कितने एक आचार्योंका ऐसा भी कथन है कि आर्त्त ध्यानका दूसरा भेद इष्टवियोग है।

काल–ज्ञान विषय अनेक ग्रन्थोंमें प्रतिपादन किया है, उसके अनुसार अपने स्वर ऊपरसे या ज्योतिष वगैरह विद्याके प्रभावसे अपनी मृत्युके थोड़े दिन जान कर अपने मनमें विचार करे कि मेरी ये सव वस्तुयें मुझसे छूट जायँगी, हा ! इस सुन्दर शरीर, प्यारे कुटुंवियों तथा स्वजन स्नेहीजनों और महाकष्टसे प्राप्त की हुई इस विपुल धनसंपत्तिको त्याग कर अव मैं चला जाऊँगा ? अपने माने हुए मददगार, मित्र, प्रियस्त्री वगैरहके वियोगसे मूर्छित

हो कर जमीन पर शोकातुर हो पड़ जाय, छाती मस्तक पीटने लगे, मरनेको तयार हो जाय, किसी भी प्रकारका शंकट पड़नेपर खराब विचार करे कि हाय रे अब मैं क्या करुँगा ? मेरी क्या दशा होगी ? अब मैं इस कष्टसे कैसे उत्तीर्ण होऊंगा, हा ! वह मेरी परमेश्वरी कहाँ चली गई ? इत्यादि विचारोंकी अन्तःकरणमें प्राप्ति होनी तथा विषयसुख भोगनेके लिए अनेक प्रकारके राग रंग, बाग बगीचे, अतर फुलेल, षड्रस युक्त भोजन, उत्तम वस्त्राभरण, सुखस्पर्श दायक शय्या, आसन वगैरह विनश्वर पदार्थोंको प्राप्त करनेके लिए अनेक पापारंभ गर्भित विचार मनमें करे, इन सबको इष्टवियोग नामक आर्त्त ध्यान कहते हैं।

आर्त्त ध्यानका तीसरा भेद रोगोदय आर्त्त है। संसारवासि तमाम जीव आरोग्यताको इच्छते हैं, परन्तु अशुभ कर्मका उदय होनेसे जीवोंके शरीरमें जो जो रोग तथा अशान्ति पैदा होती है, उसे सहन शीलतासे या असहन शीलतासे भोगे विना छुटकारा तो कदापि नहीं हो सकता, उत्तराध्ययन सूत्रके चतुर्थ अध्ययनमें शास्त्रकार फरमाते हैं कि, " कड्डाण कम्माण अणभोग न अत्थि मोक्खो " अर्थात् किये हुए कर्मको भोगे विना मोक्ष नहीं होता। इसी तरह और भी कहा है—कृतकर्मक्षयोनास्ति, कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोगतव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१॥ मनुष्यके शरीरमें साढ़े तीन करोड़ रोम राई कही जाती हैं, जिसमें एक एक रोमके अन्दर पौने दो दो रोगे भर हुवे हैं। बस इसीसे अपने विचार सकते हैं कि यह विनश्वर शरीर कितने रोगोंका घर है। जब तक जीवके सातावेदनीय कर्मका उदय रहता है, तब तक शरीरगत सब ही रोग दबे रहते हैं। जब जीवके अशुभ कर्मका उदय होता है, तब एकाएक शरीरमें अनेक प्रकारक भगंदर, जलंधर, अति-

सार, खाँसी, श्वास, ज्वर वगैरह रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उन रोगोंको भोगते समय जो मनमें आकुल व्याकुलता होती है, उस आकुल व्याकुलतासे हृदयमें अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प होते हैं, अर्थात् रोगोंको दूर करनेके लिये एकेन्द्रिय जीवसे लेकर पंचेन्द्रिय जीवोंको तथा अनन्तकाय आदिके आरंभ समारंभ, छेदन, भेदन, पचन पाचनादिकी क्रियासे मनमें मारनेका विचार होता है। अपने शरीरको अच्छा रखनेके लिये दूसरे जीवके प्राणोंका अपहार करनेका विचार आते हुए मनमें कुछ देर नहीं लगती। रोग पीड़ित हृदयमें प्रायः दयाभाव बहुत कम रहता है। अतः रोगी अवस्थामें मनुष्यके हृदयमें जो संकल्प विकल्परूप विचारोंकी परंपरा प्राप्त होती है, उसे ही तत्त्वज्ञानि पुरुषोंने आर्त्त ध्यानका रोगोदय नामक तीसरा भेद फरमाया है।

आर्त्त ध्यानका चौथा भेद भोगेच्छा नामक है। पाँचों इन्द्रियों संबन्धि भोगोंकी अभिलाषाको भोगेच्छा कहते हैं। श्रवणन्द्रिय (कान) से मधुर राग रागणी, देवांगनाओंके मधुर गायन तथा वाजोंके कोमल मनोज्ञ राग सुननेमें अभिलाष। चक्षुरिन्द्रिय (आंख) से नाच-तमासे सोलह शृंगार सजीधजी हुई युवती स्त्री तथा पुरुषों, बाग-बगीचे-नाटक, मंडपोंकी शोभा, रोशनी तथा अनेक प्रकारके रूप रंग देखनेकी इच्छा, घ्राणेन्द्रिय (नाक) से अतर फुलेल पुष्पादि सुरभित पदार्थोंकी इच्छा, रसेन्द्रिय (जीभ) से अच्छे अच्छे मधुर और स्वादीष्ट भोजन खानेका अभिलाष, और स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) से सुकोमल शय्या, आसन वस्त्राभरण तथा सुरूपा स्त्री वगैरहके विलास भोगनेकी इच्छा करे। पूर्वोक्त पाँचों इन्द्रियोंके विषय प्राप्त होनेपर मनमें यह विचार करे कि मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ जो मुझे मनोवांछित पदा-

थोंकी प्राप्ति हो जाती है। यदि सदा काल इन संभोगोंका संयोग बना रहे तो ठीक हो। बस पूर्वोक्त पौद्गलिक विषयोंमें आनन्द मानना और उनकी अभिलाषा रखना इसे ही भोगेच्छा नामक आर्त्त ध्यानका चतुर्थ भेद कहते हैं।

भोगान्तराय कर्मके उदयसे जीवको इच्छानुसार सुखदायक साधनोंकी प्राप्ति न होनेके कारण दूसरेको राज्य ऐश्वर्य लक्ष्मी भोगता देख, देव देवेन्द्र संबन्धि सुखोंको शास्त्र श्रवण द्वारा जान कर उन्हें प्राप्त करनेके लिये अपने अन्तःकरणमें ऐसी इच्छा करे कि यदि ऐसे भोगोंकी सामग्री मुझे मिल जाय तो मैं भी उन भोगोंको भोग कर अपने जन्मको सफल करूँ। तपश्चर्या, संयम, व्रत नियम वगैरह करके उसके फलको अमुक वस्तुके लिये अर्पण कर देवे, अर्थात् धर्मकरणी करके उसके फलसे संसार संबन्धि सुख निमित्त निदान (नियाणा) करे तथा अपने धर्मकर्मके प्रभावसे स्वजन संबन्धि कुटुंबियोंको धनवान वैभवशाली बनानेकी इच्छा करे। स्वजन संबन्धियों या अड़ौसी पड़ौसियोंको धन संपत्तिवाले देख कर ईर्षावश मनमें दुःखित होकर झुर झुर मरे, इत्यादिको भी भोगेच्छा नामक आर्त्त ध्यानका चतुर्थ भेद कहते हैं। पूर्वोक्त चार भेद सहित आर्त्त ध्यान समझना, अब चार भेद युक्त रौद्र ध्यानका स्वरूप लिखते हैं।

रुद्रक्रूराशयः प्राणी, प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः। रुद्रस्य कर्म भावो वा, रौद्रमित्यभिधीयते ॥ १ ॥ (ज्ञानार्णव) अर्थ—क्रूराशय—खराब परिणामवाले जीवको रुद्र कहते हैं और उस रुद्र परिणामी जीवके कर्म या भाव परिणामको रौद्र कहते हैं।

जिस तरह मदिरा पीनेसे मनुष्यकी बुद्धि विवेक शून्य हो जाती है और फिर वह मनुष्य क्रूर कार्य करनेमें ही विशेष तया

आनन्द मानता है, वैसे ही संसारी जीव अनादिकालसे कर्मरूप मदिराके नसेसे मस्त होकर पुनः पुनः संसारमें परिभ्रमण करानेवाले दुष्कृत्योंमें ही प्रवृत्ति करके आनन्दित होता है और उस दुष्कर्म जन्य आनन्दसे जीवके अन्तःकरणमें जो विचार पैदा होता है, उसे ही शास्त्रकारोंने रौद्र या भयानक ध्यान कहा है। इस रौद्र ध्यानके भी पूर्वोक्त आर्त्त ध्यानके समान चार भेद होते हैं। उववाई सूत्रमें गणधर भगवान फरमाते हैं—रुद्दे ज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा, हिंसाणुवंधी, मोसाणुबंधी, तेणाणुवंधी, सरक्खणाणुबंधी, भावार्थ—रौद्र ध्यान चार प्रकारका होता है, प्रथम हिंसानुबन्धि रौद्र—हिंसक कर्मोंकी अनुमोदना—प्रशंसा करना, २ मृषानुवन्धि रौद्र—मिथ्या कर्मोंकी अनुमोदना प्रशंसा करनेरूप, ३ चोरी करना वगैरह कर्मोंका अनुमोदनरूप और ४ संरक्षणानुवन्धि रौद्र—विषय सुख संवन्धि कर्मोंको रक्षण करनेकी अनुमोदना, या प्रशंसारूप समझना। अब इन्हीं चारों भेदोंका भिन्न भिन्न तथा स्पष्ट स्वरूप लिखते हैं। संसार भरमें किसी भी जीवको दुःख इष्ट नहीं। सर्व जीव सुखाभिलाषी हैं, परन्तु वे बिचारे कर्मके वश होकर पराधीनता, निराधारता, असमर्थता तथा दीन हीनतादि अनेक प्रकारके दुःखोंको धारण करते हैं। कर्मके विवश होकर ही जीव एकेन्द्रियादिकी अवस्थाको प्राप्त होते हैं। संसारमें सर्व जीव यथाशक्ति सुख प्राप्त करनेके उपायोंमें सदा काल लगे रहते हैं, किन्तु कितने एक जीवोंको पूर्व भवमें कुछ सुकृत न करनेसे यहाँ पर ताजिन्दगी सुख प्राप्त करनेके उपाय करते करते मर पचने पर भी इच्छित सुख नहीं मिलता।

कर्मवश पूर्वोक्त दशाको प्राप्त हुए असमर्थ, दुखी, दीन, हीन प्राणियोंको अपने स्वार्थवश या किसी मतलबसे या विना ही

मतलब कुतूहलसे दुःख देना, सताना, उनकी आत्माको कलपाना, या अन्य किसीसे उन्हें दुःखित किये देख कर अपने मनमें खुश होना। एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक किसी भी जीवको अपने हाथसे या अन्य किसीसे प्राण रहित करना कराना, दूसरोंके द्वारा वध बन्धन किये जाते दुःखित प्राणियोंको देख कर मनमें आनन्दित होना, तथा मकान, दुकान, बंगला, हवेली, कोट, किला, बूर्ज, थंभ वगैरह मट्टीके खिलौने, अनेक प्रकारके रंग भरी मूर्तियें, इत्यादि वस्तुओंको देख कर आनन्दमें आकर उन वस्तुओंके निर्माताकी प्रशंसा करना कि आहा क्या अच्छा रंग भरा है? धन्य है उस कारीगरको जिसने इस मकानको बनाया है।

इसी तरह संसारकी मनोमोहक वस्तुओंको देख कर खुशी होता हुआ उनकी प्रशंसा करे कि आहा कैसा मनोहर फुवारा चल रहा है? क्या ही उमदा लेम्प, चिमनी, ग्लास, हाँडी, फानूस वगैरहकी रोशनी है, कैसी अच्छी आतशबाजी चल रही है, देखो कैसा मन्द मन्द मकरन्द सहित मनोमोहक शीत स्पर्शवाला पवन चल रहा है? आजकी रसोइमें आलू, कचालू, रतालू, सलगम, गाजर, मूली, सकरकंदी वगैरहकी तरकारी क्या ही मजेदार बनी है? इत्यादि तथा खटमल, डांस, मच्छर वगैरह क्षुद्र जन्तु मनुष्योंका लहू पीते हैं, अतः ये मारनेके योग्य हैं। इन्हें अवश्य मारना चाहिये। जलचर जीव मछली वगैरह, भूचर–गाय, बकरे, दुम्मे, मृग आदि, खेचर, तीतर, कबूतर, बटेर वगैरह पक्षी पकाकर खानेके योग्य हैं। तथा सृष्टीमें जितने सर्प, विच्छू, आदि जानवर हैं, वे सब ही मारनेके योग्य हैं, उन्हें अवश्य मारना ही चाहिये। मूसोंसे रोगोत्पत्ति होती है, अतः उन्हें जरूर मारडालना चाहिये। अमुक आदमी सिकार खेलनेमें बड़ा ही

हुशियार है, वह एक ही दफाके निशानेसे कई पक्षियों या मृगों का संहार कर डालता है। इत्यादि सर्व विचारोंको तथा अश्वमेध यज्ञ याने अग्निमें घोड़ेका हवन करना, गोमेध यज्ञ–अग्निमें गाय अथवा बैलका हवन करना, अजामेध यज्ञ–अग्निमें बकरेका हवन करना, नरमेध यज्ञ–मनुष्यको अग्निमें होम करना। इन यज्ञोंमें पूर्वोक्त जीवोंको अवश्य होमना चाहिये, इससे बड़ा पुण्य होता है और स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति भी इसीसे होती है, इत्यादि हिंसक विचार करने, तथा कितने एक मनुष्य पाप कर्ममें रचे मचे ऐसा विचार करते हैं कि पक्षी वगैरह जीवोंका मांस भक्षण करनेसे शरीर पुष्ट होता है, तथा रोग नष्ट हो जाता है, इसी लिये वे लोग खरगोस, मृगादि पशुओंको मारनेके लिए सिकारी कुत्ते पालते हैं और उन विचारे निरापराधी जीवोंको वध करके खुश होते हैं। कितने एक मनुष्य मुरगे, भैंसे तथा मैंढे वगैरहकी लड़ाई करा कर खुश होते हैं और कितने एक क्रूर स्वभाववाले मनुष्य जीवोंका संहार करनेके लिए वन्दूक, तमंचा, रफल, तलवार, कटार, तीर, धनुष, वाण, पैनी छुरी और चक्कू वगैरह शस्त्रोंका संग्रह करते हैं, तथा ऐसे शस्त्र देख कर जीवोंके वध करनेका विचार करते हैं। वाज आदमी दूसरोंको अपनेसे अधिक गुणी या सौ-भाग्यशाली, संपत्तिवान, धनवान, रूपवान, पुण्यवान तथा विशेष कुटुंववान देख कर उनकी ईर्षा किया करते हैं और उनका किसी भी प्रकारसे अपकर्ष करनेका ही प्रयत्न किया करते हैं। दूसरोंको अपनेसे अधिक सुखी देख कर मन ही मन ईर्षासे झुर झुरकर मरते रहते हैं। कितने एक पापारंभी मनुष्य अति क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, दुर्व्यसनी अधर्मियोंकी संगत करते हैं। किसी स्वार्थवश या अपनी मान बड़ाईके लिए संसारमें हिंसाकी प्रवृत्ति हो ऐसा

उपदेश करे या हिंसाकी प्रवृत्तिवाले ग्रंथोंकी रचना करे, इत्यादिको शास्त्रकारोने रौद्र ध्यानका हिंसानुवन्धी नामक प्रथम भेद फरमाया है।

हिंसानुवन्धि रौद्र ध्यानका वर्णन शास्त्रोंमें वहुत ही विस्तारसे किया है, परन्तु सारांश यही है कि किसी भी जीवको दुःख देनेका जो मनमें विचार होता है और हिंसा करके किसी अन्यने जो चीज वनाई हो उसका अनुमोदन करना, इसको ही हिंसानुवन्धि रौद्र ध्यान कहते हैं ॥

अव मृषानुवन्धि नामक रौद्र ध्यानके दूसरे भेदका स्वरूप लिखते हैं।

असत्यचातुर्यवलेन लोकाद्वित्तं ग्रहीष्यामि वहुप्रकारं। तथाश्वमातङ्ग पुराकराणि, कन्यादि रत्नानि च वन्धुराणि ॥ १ ॥ असत्यवाग्वंचनया नितान्तं, प्रवर्तयत्यत्र जनं वराकं। सद्धर्ममार्गादतिवर्तनेन, मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा ॥ २ ॥ ज्ञानार्णव ॥

अर्थ—असत्य चतुराईके वलसे मैं लोगोंसे वहुत प्रकारसे धन ग्रहण करूँ, असत्य वचनकी वंचना द्वारा लोगोंसे अश्व, हाथी, पुर, गाँव, कन्यायें, अनेक प्रकारके रत्न वगैरह ग्रहण करूँ (और उससे अपने जीवनको सुखपूर्वक व्यतीत करूँ) अपने असत्य वचनकी पटुतासे भोले भाले जीवोंको सद्धर्म मार्गसे विमुख कर मनकल्पित मार्गमें चलाकर मन माना मत चलाऊँ। जिस मनुष्यके अन्तःकरणमें ये पूर्वोक्त असत्य विचार पैदा होते हैं, उस मनुष्यको रौद्र ध्यानका धाम कहते हैं। असत्य भाषणको मृषावाद कहते हैं। असत्य या मृषावाद संसारमें किसी भी विवेकी सभ्य पुरुषको प्रिय नहीं। असत्य यह एक वड़ा भारी महा दोष है। असत्य वचनके श्रवण मात्रसे ही सभ्य मनुष्योंके हृदयमें

अप्रीति पैदा होती है, तथापि असत्य भाषी मनुष्य इसका त्याग नहीं करते। कितने एक मनुष्य दगाबाजीसे अपना स्वार्थ गाँठ कर अपने मनमें बड़े खुश होते हैं और दगाबाजीके ही कामोंमें अपनी चतुराई तथा बहादुरी समझते हैं, हरएक प्रकारके प्रपंच करनेमें ही आनन्द मानते हैं, उन प्रपंचोंमें सफलता प्राप्त करके खुश होकर मनमें विचारते हैं कि देखी हमारी चतुराई? हमने किस प्रकार दाव पेंच चलाकर लूली, लंगड़ी, अन्धी, काणी, रूपहीन गुणहीन कन्याको कैसे अच्छे श्रेष्ठ घरानेमें व्याह दिया और उसके पाससे साढे तीन हजार रूपये लेकर वृद्ध, रोगी, तथा नपुंसकका कैसी खूबीसे विवाह करा दिया। अब वे वधु वर भले ताजिन्दगी चिल्ला कर रोते रहें मगर रूपचंद आनेसे अपना तो काम अच्छी तरहसे बन गया। इसी तरह खेत, बाग, बगीचे, घोड़ा, गाड़ी, वगैरह विक्रेय वस्तुओंकी थोड़ी देर दूसरेके आगे मिथ्या प्रशंसा कर उसे अधिक मोल लेकर बेचे और पीछेसे उस बातकी बहादुरी समझकर मन ही मन खुश होवे, एवं पुरानी वस्तुओंको रंग रोगान चढ़ाकर नई कहकर वेचे, प्रथम अच्छा माल दिखाकर पीछे दगाबाजीसे उसमें खराब मिलाकर या सरासर खराब माल देवे। मित्रोंके साथ दगाबाजी करे या कोई अपना विश्वास करके अपने पास धनादिककी धरोहर धर गया हो, उसे विश्वासघात करके हजम कर लेवे, झूठा दस्तावेज बनाकर कोरटमें साबितकर दूसरेको पेंचमें फसावे या कोरटमें जाकर झूठी गवाही दे, व्यापारके अनेक कामोंमें दगाबाजी करके दूसरे लोगोंको सदा काल ठगनेका ही विचार करे। श्री सर्वज्ञ देवके कथन किये हुए विशुद्ध मार्गको छोड़कर मनकल्पित ग्रंथोंकी रचना करके अल्प बुद्धिवाले भोले भाले जीवोंको भ्रममें डालकर अपना मत

स्थापन करे, अन्य जीवोंको शुद्ध दयामय धर्मसे विमुख करके हिंसामय धर्ममें लगाकर आनन्दित होवे, वीतराग प्रभुके कथनानुसार शुद्ध आचारवान सम्यग्ज्ञान धारक, तथा शुद्ध सर्वज्ञ देवके धर्मके प्ररूपक तथा क्षमाशील ब्रह्मचर्यादि गुणोंसे सुशोभित साधु या श्रावककी महिमा सुनकर ईर्षा द्वेषसे उनके ऊपर असत्य कलंक देकर उनकी निन्दा करे करावे, तथा जब कोई अपनी असत्य बात भी सत्य मान ले तब मनमें बड़ा खुश हो या निर्गुणी होकर गुणी कहा कर खुश हो। धर्मके मिस हिंसा करनेमें कुछ दोष नहीं ऐसा उपदेश करे, अन्धे, लंगड़े, लूले, बहरे, कोढ़ी, अपंग वगैरह दुखी जीवोंको देख कर उनकी हँसी मस्करी उड़ाकर आनन्दित हो, जिन खेलोंमें बारंबार झूठ बोलना पड़े उन खेलोंमें आनन्द मनावे, दुसरोंको दगाबाजी प्रपंचसे अपने जालमें फसानेके लिए सरासर झूठा बोले, बुद्धिकी चलाकीसे या सफाईसे या इन्द्रजालसे अनेक प्रकारके कौतुक दिखा कर तथा यंत्र मंत्रादिके आडंबर बढ़ाकर लोगोंमें अपनी महिमा बढ़ावे और उस अपनी असत्य महिमाको सुनकर आनन्द मनावे, शास्त्रोंका अर्थ करते समय या व्याख्यान बांचते समय अपने गर्हित कर्मको छिपानेके लिये लोगोंके मनमें अर्थसे विपरीत अनर्थ ठसावे। इत्यादि पूर्वोक्त कृत्योंकी प्रवृत्तिको शास्त्रकारोंने रौद्र ध्यानका मृषानुबन्धी नामक दूसरा भेद कहा है॥

रौद्र ध्यानका तीसरा भेद तस्करानुबन्धि नामक है। अब इसका ही स्वरूप लिखते हैं॥

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते। कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम्॥ चौर्येणापि हृतेपरैः परधने यज्जायते संभ्रम। स्तच्चौर्य प्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिंद्रास्पदम्॥१॥

ज्ञानार्णव ॥ अर्थ—मनुष्योंके हृदयमें जो प्रतिदिन चोरी करनेके विचार पैदा होते हैं और चोरी करके पश्चात् वे अत्यन्त हर्षित होते हैं, दूसरोंसे चोरी कराकर लाभ उठानेकी इच्छा करते हैं, इस सबको पंडित पुरुषोंने चोरी जन्य रौद्र ध्यान कहा है । तृष्णारूप जालमें फसा हुआ जीव तमाम संसारकी धन संपत्तिका मालिक वनना चाहता है, मगर पूर्व भवमें इतना पुण्य न करनेसे उन वस्तुओंका स्वामी नहीं वन सकता । पूर्वकृत पापकर्मके उदयसे प्रमादी आलसु दरिद्री वेकार होकर विना ही परिश्रमके धन इकट्ठा करनेकी इच्छाको पूर्ण करनेका मन होनेसे चोरीके सिवाय उसे अन्य कोई उपाय नहीं सूझता, वस इसी कारण वह चौर्यानुवन्धि रौद्र ध्यानमें अधिकाधिक प्रवृत्त होता जाता है । उस समय चोरी द्वारा धन प्राप्त करनेके लिये उसके अन्तःकरणमें जो संकल्प विकल्प जन्य विचार पैदा होते हैं सो नीचे मुजव समझना ।

आज घोर अँधेरी रात्रिमें काले वस्त्र पहन कर अमुक धनीरामके घर जाकर चुप चाप ताला तोड़के सन्दूकमेंसे धन निकाल कर लाऊँगा, किसकी ताकत है जो मुझे रोक सके या मेरे सामने आवे ?। शस्त्र विद्यामें तो मैं ऐसा हुशियार हूँ कि एक दफाके वारसे ही कई मनुष्योंको पछाड़ डालूँ और भागनेमें भी मैं ऐसा हुशियार हूँ कि किसकी माँने सवा सेर सूँठ खाई है जो मुझे पकड़ सके ?। ऐसी औषधियां और अंजन मेरे पास हैं कि जिससे घोर अन्धकारमें भी मैं दिनके समान जा सकता हूँ। अमुक विद्याके प्रभावसे मैं गुप्त दवे हुए धनको भी भली भाँति जान सकता हूँ । इस तरह विद्याओंमें तो मैं प्रवीण ही हूँ, इसके अलावे मेरे पक्षमें वड़े वड़े हुशियार तथा दक्ष मनुष्य हैं और हैं भी घने,

इसलिए उन सब शूर वीरोंकी सहायता लेकर अब थोड़े ही समयमें बड़े बड़े शेठ साहूकार लोगोंकी समृद्धिका मालिक बनकर निश्चिन्तपने मौज मजा उड़ाऊँगा। अमुक स्त्री बड़ी सुन्दर और रूप लावण्यवाली है अतः उसे हरण करके उसके साथ विषय सुख भोगूँगा, तथा और भी जो उत्तमोत्तम पदार्थ हैं, उन्हें अनेक प्रकारके उपायोंसे अपने स्वाधीन करके और उन सबका उपभोग करके अपनी आत्माको तृप्त करूँगा। इसी तरह कितने एक नामधारी साहूकार दूसरे लोगोंको अपनी ऊपरी साहूकारी बतलाकर अच्छे अच्छे वस्त्राभूषण, तिलक, कंठी, माला, सुवर्णमयी पीली जंजीर, मुरकी तथा चमकदार बड़ी बड़ी पगड़ियां वगैरहसे शरीरकी शोभा बनाकर, बड़े बड़े गोल मोल तकियोंका ढासना लगाकर और हाथमें जपमाला ले दुकान पर गद्दीके ऊपर बैठके यही विचार करते रहते हैं कि गाँठका पूरा और अकलका दुश्मन ग्राहक कब आवे और कब हम उसे जपमाला फिराते फिराते मुखसे भगवानका नाम उच्चारण करते हुए मीठे मीठे वचन बोलकर, पान सुपारी खिलाकर अनेक प्रकारके लालचमें डालकर अपने जालमें फसावें और फिर अच्छी तरहसे उसकी हजामत विना ही पानी कर डालें। इस प्रकार भावमें, तोलमें, मोलमें, बोलमें, मापनेमें, हिसावमें, देनेमें, लेनेमें, अनेक प्रकारसे ठगकर जहाँ तक लूटा जाय वहाँ तक तो कसर न करे पीछे उसके भाग्यसे वह बच जाय तो भले। दूसरेके मनमें विश्वास बैठानेके लिए पाई पाई के वास्ते गाय, बैल, पुत्र, पिता, तीर्थ, धर्मग्रंथ तथा धर्मकी कसम खावे, लेन देनके व्यापारमें दुगुना तिगुना व्याज बढ़ाकर अगलेका घर बरवाद कर डाले, दंभी कपटी अधर्मी होनेपर भी साहूकार कहाकर खुश होवे, इस भंगमें

कितने एक साधु लोग भी आसकते हैं, कई साधुओंका शरीर कृश्य होता है, अतः उनके शरीरको कृश्य देख कर जब कोई उनसे पूछता है कि क्यों महाराज! आप तपश्चर्या करते हैं? आपका शरीर बहुत सूख गया। उस वक्त वे महात्मा कह देते हैं हां भाई साधु तो सदा ही तपस्वी हैं न। तपस्वी न होने पर भी तपस्वी कहाकर खुश होनेवाले कपटी साधुको शास्त्रकार तपका चोर कहते हैं। शुद्धाचार न होने पर भी मलीन वस्त्र धारण करके शुद्धाचारी कहावे, इत्यादि धर्मकी ठगी करनेवाला साधु खराब गतिका भागी होता है। दशवैकालिक सूत्रमें फरमाया है कि तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जेनरे, आयार भावतेणे अ, कुव्वइ देव किब्बिसे ॥ १ ॥ अर्थ–तप, व्रत, रूप, आचार और भावनाका चोर साधु किलविषी देव होता है, अर्थात् देवताओंमें नीच जातीके देवपने पैदा होता है। दानकी चोरी करे, राजाने जिस वस्तुके लिए अपने राज्यमें मना किया हो, उस वस्तुको गुप्त रीतीसे लाकर वेचे और वेचकर मन ही मन खुशी होवे। इत्यादि चौर्यानुबन्धि रौद्र ध्यानके अनेक भेद होते हैं, किन्तु सारांश यही है कि मालिककी मरजी विना या उसे खबर किये विना जबरदस्तीसे उसकी वस्तु पर मालकीयत करलेनी या अपने उपभोगमें लेना और उससे आनन्द मनाना। बस इत्यादिको ही रौद्र ध्यानका चौर्यानुवन्धी तीसरा भेद कहते हैं।

अब रौद्र ध्यानका चौथा भेद कहते हैं, बह्वारंभपरिग्रहेषु नियंत रक्षार्थमभ्युद्यते। यत्संकल्पपरंपरा वितनुते प्राणीह रौद्राशयः ॥ य च्चालम्ब्य महत्व मुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते। तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥ १ ॥ ज्ञानार्णव ॥ अर्थ–जो क्रूर आशयवाला प्राणी बहुत सा आरंभ समारंभ परि-

ग्रह रखकर उसकी रक्षा करनेके लिए हृदयमें अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प द्वारा प्रयत्न करता है और उसके ही आलंबनसे अपनी बड़ाई समझकर मन ही मन फूला नहीं समाता तथा अपनेको सबका मालिक मानता है। इत्यादि प्रवृत्ति विचारोंको तत्त्वज्ञ पुरुषोंने रौद्र ध्यानका विषय संरक्षणानुबन्धी चौथा भेद कहा है। यह ध्यान संसारकी वासना रखनेवाले जीवोंमें होता है। संसारमें सब ही जीव बिलकुल पापी नहीं, इसी तरह सब जीव धर्मीष्ठ या पुण्यात्मा भी नहीं हैं, किन्तु सब ही जीवोंके साथ अनादि कालसे पुण्य और पाप लगे हुए हैं। जीवको पापकी अधिकता होनेसे दुःखकी अधिकता होती है और पुण्यकी अधिकता होनेसे सुखकी अधिकता होती है। इस प्रकार पाप तथा पुण्यमेंसे जिसकी अधिकता होती है उसका फल प्रत्यक्ष आंखोंसे देख पड़ता है। जिस मनुष्य या जिस प्राणीके पुण्यका आधिक्य होता है, उसे उसके पुण्यानुसार सुख प्रदायक सुन्दर वस्तुओंका संयोग मिलता है, जो कि वह सुन्दर वस्तुओंका संयोग शाश्वत नहीं विनश्वर ही है तथापि आत्मीय सुखका स्वरूप न जानकर पौद्गलिक सुखको ही अपनी बुद्धिसे सुख समझकर उन संयोगोंको सदाके लिए कायम रखनेके वास्ते मनुष्य अनेक प्रकारके प्रयत्न करता है। पौद्गलिक वस्तुओंके लिये उत्तराध्ययन सूत्रमें फरमाया है कि–अधुवे असासयम्मी, याने संसारके संयोग–पौद्गलिक सुख आस्थिर अशाश्वत क्षणभंगुर हैं, क्षण क्षणमें वस्तुओंके स्वरूपका परिवर्तन होता रहता है। संसारमें जितने पौद्गलिक पदार्थ मनुष्योंके चित्तको आकर्षित करते हैं, वे सब ही परिवर्तनशील होनेसे समय समय उनकी हानी होती है। जो वस्तु आज मनुष्यको सुखदायक या मनोमोहक मालूम होती है. परिवर्तनशील

होनेके कारण वही वस्तु किसी समय भयंकर स्वरूपमें देख पड़ती है, अर्थात् जो वस्तु प्रथम जिस स्वरूपमें स्थित रही हुई मनोज्ञ और रमणीय मालूम होती थी वही वस्तु परिवर्तन होते होते ऐसे स्वरूप या स्वभावमें स्थित हो जाती है कि उसकी तरफ दृष्टि पात करते हुए भी घृणा उत्पन्न होती है । ऐसे विनश्वर पौद्गलिक वस्तु समूहको नष्ट होता देख या जानकर उसे सदाके लिए कायम रखनेको अनेक प्रकारके उपाय करे या राज्यलक्ष्मी प्राप्त होनेपर मनमें विचार करे कि मेरे राज्यमें शत्रुराजा न आ घुसे इसलिये अच्छे अच्छे बलीष्ठ योद्धाओंको फौजमें भरती करूँ, जिससे काम पड़नेपर शत्रु सैन्यको मार भगावें, तथा सामन्त वगैरह लोगोंको भी मान सन्मान और धन इत्यादि देकर खुश रक्खूँ कि जिससे वे लोग भी काम पड़नेपर अपने प्राण देनेको लड़ाईमें शत्रुके सामने तैयार हो जायें । इत्यादि राज्य लक्ष्मीका संरक्षण करनेके लिए रात दिन संकल्प विकल्प जन्य चिन्ता किया करे । इसी तरह धनादिकी प्राप्ति होनेपर उसके रक्षणके वास्ते रात दिन यही विचार करे कि अब इस धनको जमीनमें ऐसे स्थानपर गाड दूँ कि जहाँ पर किसीको यह शंका भी न पड़े कि यहाँ पर कुछ होगा, अथवा किसी लोहेके सन्दूकमें रखकर खंभाती ताले लगा दूँ जिससे चोर अग्नि वगैरहके उपद्रवका डर हीं न रहे।

अब किसीके साथ मित्राचारी या बहुत परिचय न करूँ जिससे कभी खर्च करनेका समय ही न आवे, धर्मोपदेशक या धर्मगुरुओंके पास जाना भी अब कम करूँगा जिससे वे मुझे कभी चार पैसे खर्चनेका काम न बतावें । बस अबसे शरीर पर वस्त्र भी फटे पुराने मैले कुचैले पहनूँगा जिससे धनवानकी शंका करके मुझसे कोई चार पैसे मांग ही न सके । एवं शरीरका संर-

क्षण करनेके वास्ते अनेक पापारंभि विचार करे, स्त्रीके रक्षणार्थ तथा अन्य किसी भी प्रिय वस्तुके रक्षणार्थ जो मनमें संकल्प विकल्प होते रहते हैं, उसे ही शास्त्रकारोंने संरक्षणानुबन्धि नामक रौद्र ध्यानका चौथा भेद कहा है। यह रौद्र ध्यान जीवोंको महा भयंकर संकट देनेवाला होता है। रौद्र ध्यानी जीवोंका हृदय सदा काल कलुषित रहता है। रौद्र ध्यानी परके सुख दुःखकी परवा न करके सदा काल अपने सुख प्राप्त करनेकी इच्छा किया करता है। अपने सुखके लिये उसे दूसरे जीवोंका वध करना तो एक गाजर मूलीके समान होता है। रौद्र ध्यानवाले जीवका परिणाम प्रायः सदा काल महाक्लिष्ट और क्रूर होता है। महाक्रूर परिणाम होनेके कारण उसे सदैव वज्र लेपके समान घोर क्लिष्ट कर्मोंका बन्ध होता रहता है और उन घोर कर्मोंका विपाक उसे नरकादि नीच गतियोंमें जाकर भोगना पड़ता है। रौद्र ध्यानी को सदैव कृष्ण लेश्या होती है और कृष्ण लेश्या परिणामी जीव हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, ये पाँच अव्रत तथा मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय, और अशुभ योग, ये पाँच आश्रव, इस तरह इन दश पाप कर्मोंका सेवन करता है और उन कर्मोंका दारुण फल भोगते समय भी मनके अप्रशस्त विचार होनेसे आगेके लिए फिर वैसाकावैसा ही गाढ बन्ध करता है। बस इसी प्रकार अशुभ विचार जन्य कर्मोंके प्रभासे जीव संसार चक्रमें अनन्त काल पर्यन्त परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रमत्त गुण स्थानमें पूर्वोक्त आर्त्त ध्यानकी मुख्यता होती है और उपलक्षणसे पूर्वोक्त रौद्र ध्यानका भी अस्तित्व होता है क्योंकि प्रमत्त गुणस्थानमें हास्यादि नव नोकषायोंकी विद्यमानता होती है।

इस गुणस्थानमें आज्ञादि आलंबनों सहित धर्म ध्यानकी

गौणता रहती है अतः प्रसंगसे सालंबन धर्मध्यानका स्वरूप हम यहाँ पर ही लिखे देते हैं। धर्म ध्यानके चार पाये होते हैं, जिसमें आज्ञाविचय नामक प्रथम पाया है। आज्ञाविचय धर्म ध्यानका ध्याता अपने मनमें ऐसा चिन्तवन करे कि वीतराग सर्वज्ञ देवने प्रवचन द्वारा जो कुछ आज्ञा फरमाई है, वह बिल्कुल सत्य है। पदार्थोंका स्वरूप मेरी समझमें यथार्थ नहीं आता यह मेरी ही बुद्धिकी मन्दता है। अथवा दूषम कालका प्रभाव, एवं शंसय भेदन करनेवाले सद्गुरु महाराजका अभाव। इत्यादि कारणोंसे मैं वस्तुके यथातथ्य स्वरूपको नहीं समझ सकता, किन्तु निःस्वार्थ एकान्त सर्व जीवोंके हितकारी श्री तीर्थंकर सर्वज्ञ देवने अपने कैवल्य ज्ञानसे जो वस्तुओंका स्वभाव-स्वरूप कथन किया है, उसमें जरा भी फेरफार नहीं। सर्वज्ञ देवकी क्या आज्ञा है और उन्होंने किन किन पदार्थोंका किस स्वभाव या स्वरूपमें वर्णन किया है, प्रथम इसका विचार करनेकी परमावश्यक्ता है। वीतराग देवने कैवल्य ज्ञान और कैवल्य दर्शन प्राप्त करके अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक, इन तीनों लोकमें भूत, भविष्यत और वर्तमान कालमें जो जीव तथा पुद्गल (जड़) के अनन्त पर्यायोंका परिवर्त्तन हो रहा है, सो प्रगट तया बतला दिया है, अतः प्रभुकी आज्ञा द्वारा हम लोग चराचर पदार्थोंके स्वरूपको जान सकते हैं, उसमें भी अदृश्य पदार्थोंके गुण तथा पर्याय इतने सूक्ष्म हैं कि साधारण मनुष्य तो क्या किन्तु बड़े बड़े चार ज्ञान धारक और बारह अंगके पाठी महामुनिवरोंके लक्षमें भी आने मुस्किल हैं। जो सूक्ष्म पदार्थ अपनी बुद्धि द्वारा तो समझमें आ ही नहीं सकते तथापि उन्हें हम शास्त्र द्वारा सत्य मानते हैं, उन सूक्ष्म पदार्थोंको भी

सर्वज्ञ देवने स्पष्ट तया कथन कर बताया है, अतः ऐसे अपक्ष-पाती सर्वज्ञ देवकी आज्ञा हमें अवश्य माननी चाहिये। सर्वज्ञ देवने अपने कैवल्य ज्ञान द्वारा तीन लोकवर्ति पदार्थोंका जैसा स्वरूप देखा है वैसा ही भव्य जीवोंके उपकारार्थ कथन किया है, इस लिए उनके कथन किये हुए सूत्रोंका अर्थ, जीवोंकी मार्गणा, महाव्रतोंकी भावना, पाँचों इन्द्रियोंके दमन करनेका विचार, दयार्द्र भाव, कर्म बन्धनसे मुक्त होनेके उपायोंका विचार, चतुर्गति और सत्तावन हेतुओंकी चिन्तवना, इत्यादिका विचार करनेवाले मनुष्यको शास्त्रकारोंने धर्म ध्यानका ध्याता कहा है। ध्यान करनेवाले को प्रथम सूत्र ज्ञानकी जरूरत है, क्योंकि सूत्र ज्ञान विना आज्ञाविचय नामक धर्म ध्यानके प्रथम पायेका ध्याता नहीं हो सकता। श्रुत ज्ञानका विषय बड़ा गहन और विशाल है। केवल ज्ञान और श्रुत ज्ञानमें फरक है तो फक्त इतना ही है कि केवल ज्ञानका विषय प्रत्यक्ष है और श्रुत ज्ञानका विषय परोक्ष है। केवल ज्ञानी सर्वज्ञ प्रभुने जितने भाव केवल ज्ञान द्वारा साक्षात् तया जाने हैं, उनमेंसे जितना वाणी द्वारा प्रगट किया जाता है, वह सब ही श्रुत ज्ञान कहलाता है। केवल ज्ञानीके कथनसे ही सातवीं नरकके अन्तिम पाथड़ेसे लेकर मोक्ष पर्यन्त चतुर्दश राजलोककी शाश्वती रचनाको छद्मस्थ प्राणी भी जान सकते हैं, यह सर्व श्रुत ज्ञानका ही विषय है। स्वयंभूरमण समुद्रसे भी अधिक गंभीर, लोक तथा अलोकसे विस्तृत, सर्व पदार्थोंसे भिन्नाभिन्न और करोड़ों ही सूर्योंसे भी अधिक प्रभासमान श्रुत ज्ञान है। यद्यपि कालके महात्म्यसे आज श्रुत ज्ञानका शतांश भाग भी अवशेष नहीं रहा, तथापि श्रुत ज्ञानमें आचारांग, सूयगड़ांग, ठाणांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपा-

सक दशांग, अन्तगड दशांग, अणुत्तरोववाई दशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद, ये बारह अंग हैं।

इन बारह अंगोंमें दृष्टिवाद आज विच्छेद है, इस लिए ग्यारह ही अंग अवशेष हैं। चार अनुयोगोंमें प्रथम चरणकरणानुयोग है, जिसमें आचार कथन किया है, जैसे आचारांग सूत्रादि। दूसरा गणितानुयोग है। गणितानुयोगमें गणित शास्त्र विषय है। जिस तरह सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति सूत्रादि। तीसरा धर्मकथानुयोग है। धर्मकथानुयोगमें धर्म संबन्धि कथाओंका विषय है, जैसे ज्ञाता, उत्तराध्ययन वगैरह सूत्र। चौथा द्रव्यानुयोग है। द्रव्यानुयोगमें धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय वगैरह छः द्रव्योंका स्वरूप कथन किया है। जैसे सूयगडांग सूत्र, ठाणांग सूत्र, पन्नवणा सूत्र वगैरह। पूर्वोक्त ग्यारह अंगोंके उपरान्त बारह उपांग हैं, जिनके नाम यहाँ पर उधृत करते हैं। उववाई, रायपसेणी, जीवाभिगम, पन्नवणा, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, निरयावली कप्पिया, कप्पवढंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वह्निदशा, एवं ग्यारह अंग और बारह उपांग तथा अन्य भी बहुतसे प्रकीर्ण ग्रंथों द्वारा श्रुत ज्ञानका विस्तार है। श्रुत ज्ञान अनेक चमत्कारि विद्याओंका भी समुद्र है। श्रुत ज्ञानका विषय अति गहन होनेसे बड़े बड़े विद्वान लोग भी उसका प्रभाव या उसका संपूर्ण वर्णन करनेको असमर्थ हैं। संसारमें घोरातिघोर कर्म करनेवाले प्राणी भी श्रुत ज्ञानरूप तीर्थमें गोते लगा कर पवित्र हो गये हैं। यदि पतित प्राणियोंका उद्धार करनेमें समर्थ है तो केवल यह श्रुत ज्ञान ही है, योगी पुरुषोंका तीसरा नेत्र श्रुत ज्ञान है। इत्यादि अनेक प्रभाओंसे परिपूर्ण श्रुत ज्ञानका अभ्यास करनेमें धर्मध्यानीको लेश मात्र भी प्रमाद न करना चाहिये। धर्मध्यानके ध्याताको

मूल चतुर्दश मार्गणाओंका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये, इससे ध्यानमें बहुत कुछ स्थिरता प्राप्त होती है। मार्गणाओंके उत्तर भेद बासठ होते हैं। मूल मार्गणा–गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारिक। अब इन मूल मार्गणाओंका स्वरूप भिन्न भिन्न तया लिखते हैं।

प्रथम गति मार्गणा–जिसमें पूर्व पर्यायोंको बदल कर जीवोंका आना जाना होता है, उसे गति कहते हैं। वे गति चार हैं, नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति। नरक गति अधोलोकमें है, वहाँ पर महादुःखप्रद सात भयंकर स्थान हैं, जिनके नाम–१ घम्मा, २ वंशा, ३ शेला, ४ अंजना, ५ रिट्ठा, ६ मघा, ७ माघवती। प्रसिद्धिमें इन सातों स्थानोंके नाम गोत्र तया आते हैं इस लिए वे भी नाम हम यहाँ पर उधृत किये देते हैं–१ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ वालुकाप्रभा, ४ पंकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमःप्रभा, ७ तमस्तमःप्रभा। तिरछे लोकमें महाक्रूर कर्म करनेवाले जीव नरक गतिमें–पूर्वोक्त सात स्थानोंमें जा कर उत्पन्न होते हैं और वहाँ पर चिरकाल तक रह कर पूर्वकृत अशुभ कर्मोंका फल दारुण दुःख भोगते हैं। दूसरी तिर्यंच गति है, जिसमें सूक्ष्म एकेन्द्रियसे लेकर बादर एकेन्द्रिय तथा त्रस द्वीन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पशु पक्षी वगैरह पैदा होते हैं। तीसरी मनुष्यगति–जिसमें तिरछे लोकमें कर्मभूमि तथा अकर्मभूमि क्षेत्रमें मनुष्य–प्राणी उत्पन्न होते हैं। चौथी देवगति है–जिसमें भुवनपति, बाणव्यन्तर, जोतिषी तथा वैमानिक देवता पैदा होते हैं, भुवनपति देवता दश प्रकारके होते हैं, सो निम्न लिखे मुजब समझना। असुर कुमार, नाग कुमार, सुवर्ण कुमार, विद्युत कुमार, अग्नि

कुमार, द्वीप कुमार, उदधि कुमार, दिशा कुमार, वायु कुमार, और स्तनित कुमार। ये दश प्रकारके भुवनपति देवता होते हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकारके होते हैं, किंनर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, ये आठ प्रकारके वाणव्यन्तर देवता कहे जाते हैं। ज्योतिषि देव पाँच प्रकारके होते हैं, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, ये पाँच ज्योतिषि देव समझना। वैमानिक देवता दो प्रकारके होते हैं। एक तो कल्पवासी और दूसरे कल्पातीत, कल्पवासी देवता, सौधर्म देवलोक, ईशान देवलोक, सनतकुमार देवलोक, माहेन्द्र देवलोक, ब्रह्म देवलोक, लान्तक देवलोक, महाशुक्र देवलोक, सहस्रार देवलोक, आनत देवलोक, प्राणत देवलोक, आरण्य देवलोक तथा अच्युत देवलोक। एवं वारह देवलोक स्थानोंमें पैदा होते हैं। कल्पातीत देवताओंमें भी दो भेद होते हैं—एक तो ग्रैवेयक निवासी और दूसरे अनुत्तरवासी। ग्रैवेयक निवासी नव प्रकारके होते हैं—भद्र, सुभद्र, सुजात, सौमनस्य, प्रियदर्शन, सुदर्शन, अमोघ, सुप्रतिवद्ध और यशोधर, एवं इन नव स्थानोंमें ग्रैवेयक देवता उत्पन्न होते हैं। अव रहे अनुत्तरवासी, सो पाँच प्रकारके होते हैं, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध, इन पाँच स्थानोंमें अनुत्तर कल्पातीत देवता पैदा होते हैं। ये पाँच अनुत्तरवासिदेव अवश्य सम्यग्दृष्टी ही होते हैं और दो तीन भवके अन्दर ही सिद्धि गतिको प्राप्त करते हैं। अन्तिम सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देवता तो अवश्यमेव अगले भवमें ही मोक्ष पद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये चार गति संसारिजीवोंके लिए अनादि अनन्त हैं। कितने एक विद्वान मोक्षको पाँचवीं गति तथा कथन करते हैं, किन्तु जव जीवात्मा मोक्ष गतिको प्राप्त कर लेती है

तब उसे फिर पूर्वोक्त सांसारिक चार गतियोंमें परिभ्रमण करना सर्वथा सदा कालके लिए मिट जाता है।

दूसरी इन्द्रिय मार्गणा है, जिससे जीवोंकी गतिका ज्ञान होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं, वे इन्द्रियाँ पाँच हैं। एकेन्द्रिय सूक्ष्म बादर पृथ्वीकायादि जीवोंको होती है, अर्थात् पाँचों इन्द्रियोंमेंसे उन जीवोंको केवल एक स्पर्शेन्द्रिय ही होती है। द्वीन्द्रिय जीवोंको स्पर्शेन्द्रिय और रसना इन्द्रिय होती है, वस्तुओंके गल सड़ जाने पर जो उनमें कीड़े वगैरह जन्तु पड़ जाते हैं, वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। तीन इन्द्रियवाले जीवोंको स्पर्शेन्द्रिय, रसना इन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय (नासिका) होती है। चींटी वगैरह जन्तु त्रीन्द्रिय होते हैं। चार इन्द्रियवाले जीवोंमें चौथी चक्षुइन्द्रिय होती है। बिच्छू वगैरह जन्तु चार इन्द्रियवाले होते हैं। पंचेन्द्रियवाले जीवोंमें जलचर मछली वगैरह, स्थलचर गाय, बैल वगैरह पशु, तथा मनुष्य, खेचर हंस तोते वगैरह पक्षी, देवता तथा नारकी, स्पर्श, रसना, (जीभ) घ्राण, चक्षु, और कर्ण (कान) मिलकर ये पाँच इन्द्रियवाले होते हैं।

तीसरी काय मार्गणा-जिसमें स्थिति करके जीव रहता है, उसे काय कहते हैं, सर्वज्ञ प्रभुने जीवोंकी काय छः फरमाई हैं, पृथ्वीकाय, अपकाय, (पानी) तेउकाय, (अग्नि) वायुकाय, वनस्पति काय, ये पाँच काय तो एकेन्द्रिय जीवोंकी समझना और त्रसकाय, इस त्रसकायमें द्वीन्द्रियसे लेकर हलते चलते पंचेन्द्रिय पर्यन्त सर्व जीव समझ लेना।

चौथी योग मार्गणा-दूसरेके साथ संबन्ध करे उसे योग कहते हैं। वे योग जैन दर्शनमें तीन माने हैं, मनोयोग-अन्तः-

करणके विचार, वचनयोग–शब्दोच्चार, काययोग–शरीर संबन्धि व्यापार।

पाँचवीं वेद मार्गणा–विकारके उदय भावको वेद कहते हैं। तत्वज्ञ पुरुषोंने वेद तीन फरमाये हैं, स्त्री वेद–विकारसे पुरुषकी इच्छा, पुरुष वेद–विकारोदयसे स्त्रीकी इच्छा, नपुंसक वेदमें विकारोदयसे स्त्री पुरुष दोनोंकी इच्छा होती है।

छठी कषाय मार्गणा–जिससे संसारका कस आत्मप्रदेशोंके साथ लिप्त होवे, उसे कषाय कहते हैं। कषायके क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार मूल भेद हैं और इनके सोलह उत्तर भेद होते हैं।

सातवीं ज्ञान मार्गणा–जिससे पदार्थका बोध होता है उसे ज्ञान कहते हैं, उस ज्ञानके पाँच भेद होते हैं, मतिज्ञान-बुद्धि जन्य ज्ञान, श्रुतज्ञान–शास्त्र श्रवण जन्य ज्ञान, अवधिज्ञान, इन्द्रियोंकी सहायता विना ही रूपी द्रव्योंको जनानेवाला ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान–सर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके मनोगत भावको जनानेवाला ज्ञान, केवलज्ञान–सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें लोकालोकमें स्थित रूपी अरूपी चर अचर सर्व पदार्थों सर्व भावोंको जनानेवाला अनुत्तर ज्ञान। ये पूर्वोक्त पाँच ज्ञान सम्यग्दृष्टी जीवको ही होते हैं। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान तथा विभंग ज्ञान, ये मिथ्यादृष्टि जीवोंको होते हैं। मनःपर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान, सर्व विरतिवाले जिवोंको ही होते हैं, सर्व विरति और सम्यक्त्वके विना ये दो ज्ञान नहीं हो सकते, इसलिये इनका विपर्य भी नहीं होता। पूर्वोक्त पाँच ज्ञानोंमें मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान, ये दो ज्ञान परोक्ष हैं और अवधि ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान तथा केवल ज्ञान, ये तीन ज्ञान अतीन्द्रिय होनेसे आत्माके

प्रत्यक्ष होते हैं। इस बातका विशेष विवेचन नंदी सूत्रमें किया है।

आठवीं संयम मार्गणा—अप्रशस्त कार्योंसे मनको रोकना उसे संयम कहते हैं, वह संयम सात प्रकारका होता है। जिन जीवोंको व्रत प्रत्याख्यान नहीं है, वे सर्व जीव अविरति संयममें समाविष्ट हैं। दूसरा देशविरति संयम है, जिसमें श्रावक धर्मका प्रतिपालन किया जाता है। तीसरा सामायिक संयम है। चौथा छेदोपस्थापनीय संयम—दोष निवारण करने रूप है, अर्थात् महाव्रतोंका आरोपण रूप है। पाँचवा परिहारविशुद्धि संयम—विशुद्ध चारित्र रूप है। यह परिहारविशुद्धि संयम प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके साधुओंको ही होता है। इस संयमको धारण करनेवाले साधुओंको बड़े कठिन अभिग्रह धारण करने पड़ते हैं और वे साधु परिहार विशुद्धि संयममें सदा काल अप्रमत्त-प्रमाद रहित रहते हैं। इसका विशेष वर्णन प्रज्ञापना (पन्नवणा) सूत्रमें लिखा है। छठा संयम सूक्ष्मसंपराय नामक है। यह संयम सूक्ष्म लोभके सिवाय सर्व दोषोंसे रहित होता है। सातवाँ यथाख्यात संयम है, यथाख्यात संयम सर्व दोषों रहित है। केवल ज्ञानावस्थामें केवली भगवानको सर्वदा यथाख्यात संयम ही होता है।

नवमीं दर्शन मार्गणा—देखनेको दर्शन कहते हैं, उस दर्शनके चार भेद हैं, चक्षु दर्शन—आँखोंसे वस्तुको देखना। अचक्षु दर्शन—आँखों बगैर ही चार इन्द्रियों तथा मनसे वस्तुको देखना। अवधि दर्शन—इन्द्रियोंकी सहायता विना ही आत्म लब्धिसे रूपी पदार्थोंका दर्शन करना। केवल दर्शन—सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें रूपी अरूपी चराचर पदार्थोंको साक्षात्कार तया देखना।

दशवीं लेश्या मार्गणा—जीवको जो कर्मसे लेपित करे उसे लेश्या कहते हैं। लेश्यायें छः होती हैं, कृष्ण लेश्या महा पापी

जीवको होती है। दूसरी नील लेश्या अधर्मी जीवको होती है। तीसरी कापोत लेश्या वक्र स्वभावी कदाग्रही जीवको होती है। तेजो लेश्या न्यायवान जीवको होती है। पद्म लेश्या धर्मात्मा जीवको होती है और शुक्ल लेश्या मोक्षार्थी प्राणीको होती है।

ग्यारहवीं भव्य मार्गणा–जिस जीवमें मोक्ष प्राप्त करनेकी शक्ति होती है, उसे भव्य कहते हैं। संसारवासि जीवोंमें दो प्रकारके जीव होते हैं। जिनके अन्दर मोक्षपद पानेकी शक्ति है, उन जीवोंको भव्य कहते है और जिनमें कभी मोक्षपद प्राप्त करनेकी शक्ति ही नहीं, अनादि कालसे संसार चक्रमें परि-भ्रमण कर रहे हैं और अनन्त काल तक संसारमें ही रखड़ते रहेंगे, उन्हें अभव्य कहते हैं।

वारहवीं सम्यक्त्व मार्गणा–पदार्थके यथातथ्य स्वरूपको जानकर उसे वैसे ही स्वरूपमें मानना, उसे सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व सात प्रकारका होता है, पहले गुणस्थानमें रहनेवाले जीव प्रथम सम्यक्त्वमें समाविष्ट हो जाते हैं, इसे ही मिथ्यात्व सम्यक्त्व कहते हैं। दूसरा सास्वादन सम्यक्त्व–ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ा हुआ जीव मोहनीय कर्मके वश होकर जब नीचे गिरता है, तब उस जीवको खाई हुई खीर वम देनेपर जो स्वाद रहता है वैसा ही स्वाद ऊपरके गुणस्थानोंसंवन्धि सम्यक्त्वका रहता है, सो भी अल्प समय तक ही रहता है, उसके वाद वह जीव प्रथम गुणस्थानमें चला जाता है, जब तक वह जीव ऊपरसे पड़ता हुआ प्रथम गुणस्थानको प्राप्त न करे तब तक उसे सास्वादन नामक सम्यक्त्व होता है। तीसरा मिश्र सम्यक्त्व–मिश्र गुणस्थानका स्वरूप हम प्रथम लिख चुके हैं उस स्थानमें रहे हुए जीवको जो सर्व धर्मोंपर समान

भाव होता है उसे मिश्र सम्यक्त्व कहते हैं । चौथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व–मोहनीय कर्मकी कितनी एक प्रकृतियोंके क्षय होने पर तथा कितनी एक प्रकृतियोंके उपशम होने पर जीवके अन्तःकरणमें जो भाव पैदा होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। पाँचवाँ औपशमिक सम्यक्त्व–मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियोंके उपशम होने पर औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है । छठा वेदक सम्यक्त्व–कर्म प्रकृतियोंको वेदे उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। यह वेदक सम्यक्त्व जीवको क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे क्षणमात्र पहले समय होता है। सातवाँ क्षायिक सम्यक्त्व–मोहनीय कर्मकी सातों प्रकृतियोंको सर्वथा क्षय करदेने पर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है और वह सम्यक्त्व फिर मोक्षपदकी प्राप्ति होने तक नष्ट नहीं होता, अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होकर फिर जाता नहीं।

तेरहवीं संज्ञी मार्गणा–मनवाले जीवको संज्ञी कहते हैं। संसारमें दो प्रकारके जीव हैं, एक तो संज्ञी और दूसरे असंज्ञी। देवता, नारकी तथा मातापिता के संयोगसे पैदा होनेवाले मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी कहाते हैं और पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय तथा मातापिताके वगैर संयोग पैदा होनेवाले पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम मेंडक वगैरह असंज्ञी कहलाते हैं।

चौदहवीं आहार मार्गणा–जीव समय समय आहार ग्रहण करता है, इसे आहारिक कहते हैं और अनाहारिक–जिस समय जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है उस समय यदि विग्रह गति करे तो उत्कृष्ट तीन समयतक अनाहारी रहता है। पूर्वोक्त इन चौदह मार्गणाओंका स्वरूप मनमें विचारना चाहिये। धर्मध्यानी प्राणीको सदा काल सर्व धर्मोंका मूल और परम पवित्र जीव दयाको अपने हृदयमें स्थान देना चाहिये।

दयाका स्वरूप जाने विना उसका पालन नहीं हो सकता, अतः जीवोंकी दशा तर्फ दृष्टिपात करनेकी जरूरत है। संसारमें त्रस तथा स्थावर जीव पूर्वकृत कर्मके वशीभूत होकर शारीरिक रोग तथा मानसिक चिन्तासे अत्यन्त दुःखोंका अनुभव कर रहे हैं। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मनुष्य जातिमें भी अनेक मनुष्य लले, लँगड़े, अन्धे, पाँगले, कुष्टी, अपंग होकर महाकष्टमयी दशामें अपने जीवनको विता रहे हैं। उन विचारे दुःख पीड़ित जीवोंकी दशा देख कर अपने अन्तःकरणमें उनके ऊपर अतिशय दयार्द्र भाव लाना या शक्ति होने पर उनके दुःखको दूर करनेका उपाय करना चाहिये। तिर्यंच जातिमें पशु पक्षी वगैरह विचारे अन्न वस्त्र घर रहित हैं, निराधार हैं। उन बिचारोंको भूख प्यास जाड़ा धूप आदि अनेक प्रकारके दुःख पराधीनतासे सहन करनें पड़ते हैं। वे कर्मवश अपना दुःख दूसरेको कह भी नहीं सकते, उन्हें जो वेदनायें होती हैं उन वेदनाओंको उनकी आत्मा ही जानती है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवोंसे चौरिन्द्रिय जीवोंको अधिक दुःख अनुभव करना पड़ता है, क्योंकि उन्हें पंचेन्द्रिय जीवोंसे एकेन्द्रिय कम होती है। एवं चौरिन्द्रियवाले जीवोंसे त्रीन्द्रियवाले जीवोंको, त्रीन्द्रियवाले जीवोंसे द्वीन्द्रियवाले जीवोंको, द्वीन्द्रियवालोंसे स्थूल एकेन्द्रियवालोंको और स्थूल एकेन्द्रियवाले जीवोंसे निगोदवाले (सूक्ष्म एकेन्द्रियवाले) जीवोंको क्रमसे अधिकाधिक ही दुःख होता है। निगोदमें एक शरीरके अन्दर अनन्त जीव एकत्रित होकर रहते हैं। निगोदवाले जीव एक मुहूर्त्तमें याने अड़तालीस मिनिटमें ६५५३६ जन्म मरण धारण करते हैं। निगोदवासी जीव अनन्त अव्यक्त वेदनाको सहन करते हैं। इस प्रकार पूर्वकृत कर्मके प्रभावसे वे रंक जीव पराधीन होकर अनेकानेक

दुःखोंका अनुभव करते हैं। जीवोंकी ऐसी दुर्दशा देख कर जिस मनुष्यके हृदयमें दयासंचार होता है बस वही मनुष्य धर्मके योग्य हो सकता है। कर्मबन्धन छूटनेसे जीवको मोक्षपदकी प्राप्ति होती है, इस लिए ध्यानी मनुष्यको बन्धका स्वरूप समझना चाहिये।

बन्ध चार प्रकारका होता है–पयइ, ठिइ, रस, पएसा। अर्थात् प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, रस बन्ध (अनुभाग बन्ध) और प्रदेश बन्ध। इन चार प्रकारके बन्धोंका स्वरूप बड़ा गहन और विस्तारवाला है तथापि संक्षेपसे समझनेके लिए यहाँ पर एक दृष्टान्त द्वारा लिखते हैं।

प्रकृति बन्ध–स्वभावको प्रकृति कहते हैं, जिस तरह सूँठ वगैरह पदार्थ डाल कर एक लड्डू बनाया हो, उस लड्डूमें जैसे वायु रोग दूर करनेका स्वभाव होता है, उसी प्रकार आत्म गुण ज्ञानको आच्छादित करनेका ज्ञानावरणीय कर्मका स्वभाव है। दर्शनावरणीय कर्मका स्वभाव दर्शन गुणको दबानेका है। वेदनीय कर्मका स्वभाव निराबाध सुखकी हानी करनेका है। सम्यक्त्व तथा चारित्रको रुकावट करनेका स्वभाव मोहनीय कर्मका है। आयु कर्मका स्वभाव अजरामर पद प्राप्तिकी हानी करनेका है। नाम कर्मका स्वभाव अरूपी पद प्राप्तिकी हानी करनेका है। गोत्र कर्मका स्वभाव अगुरु लघु पद याने संपूर्ण सुलक्षण पदकी हानी करनेका है। आत्माकी अनन्त शक्तिको आच्छादित करनेका स्वभाव अन्तराय कर्मका है। पूर्वोक्त कर्मोंके अन्दर पूर्वोक्त गुणोंको जो दबा लेनेका स्वभाव है, उसे ही प्रकृति बन्ध कहते हैं। जिस तरह पूर्वोक्त लड्डूकी काल स्थिति एक मास या एक पक्षकी होती है, अतएव वह लड्डू उस एक मास या एक पक्षकी स्थितिसे अधिक समय हो जानेपर स्वाद रहित हो जाता है।

वैसे ही स्थिति वन्धका स्वरूप समझना चाहिये। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा अन्तराय कर्म, इन चारों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति ३० तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपमकी है। मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपमकी है। आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ तेतीस सागरोपमकी है। नाम कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपमकी है, तथा इतनी ही गोत्र कर्मकी समझ लेना।

रस वन्ध–जैसे पूर्वोक्त लड्डूमें डाली हुई वस्तुओंका रस किसीका मधुर और किसीका तिक्त होता है वैसे ही कर्मोंका रस भी देश बन्धक, सर्व घातक तथा अघातक समझना। उसमें भी अशुभ कर्म प्रकृतियोंका रस नींवके रसके समान कटु और शुभ कर्म प्रकृतियोंका रस दूधरसके समान मधुर होता है। प्रदेश वन्ध–पूर्वोक्त लड्डू बनाते समय कभी अधिक आटेका बनाया जाता है और कभी कम आटेका। वैसे ही कितने एक कर्मोंका वन्ध अधिक दलियोंवाला और कितने एक कर्मोंका वन्ध कम दलियोंवाला होता है, अर्थात् मन वचन कायकी मन्दता तथा तीव्रतानुसार ही अल्प देशीय और वहु प्रदेशीय वन्ध होता है। इन पूर्वोक्त चार प्रकारके वन्धोंमेंसे प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध, ये दो बन्ध योगसे वन्धते हैं और स्थिति वन्ध तथा रस बन्ध, ये दो कषायसे बन्धते हैं। इन बन्धनोंसे जीव संसारमें अनादि कालसे जकड़ा हुआ अनेक रूप धारण करता है। संसारके तमाम जीव पूर्वोक्त वन्धनोंके अनुसार कोई क्रूर प्रकृतिवाले, कोई शान्त प्रकृतिवाले, कोई दीर्घायु, कोई इष्ट संयोगवाले, कोई अनिष्ट संयोगवाले, कोई अच्छे संस्थानवाले, कोई बुरे संस्थानवाले, कोई अच्छे रूपवाले और कोई खराब रूपवाले होते हैं। इस प्रकार

कर्मके वश हुवे जीवोंको देख कर अच्छेके ऊपर राग तथा बुरेके ऊपर द्वेष न करके सदा काल मध्यस्थ भावमें रहना चाहिये, क्योंकि संसारमें समस्त प्राणियोंका जैसा जैसा कर्म वन्धोदय होता है उन्हें वैसी वैसी ही संयोग वियोगादिकी सामग्री प्राप्त होती है। जिस तरह धान्य या अन्य किसी वीज विशेषके अन्दर अंकूर प्राप्त करनेकी शक्ति या स्वभाव होता है, वैसे ही पूर्वोक्त वन्धनों सहित जीवात्मामें पुनर्जन्म धारण करनेका स्वभाव है। जैसे वीजको आगमें भस्म कर देनेसे या उसका नकवा छेदन कर देने पर उसके अन्दरसे अंकूर शक्ति या अंकूर देनेका स्वभाव नष्ट हो जाता है, वैसे ही पूर्वोक्त चार प्रकारके वन्धनरूप वीजको ध्यानरूप अग्निसे भस्मावशेष कर देनेसे जीवात्माका पुनर्जन्म धारण करनेका स्वभाव नष्ट हो जाता है। फिर उसे अजरामरकी प्राप्ति हो जाती है। पूर्वोक्त वन्धनोंके प्रभावसे ही जीव चतुर्गतिरूप संसारमें ऊंच नीच गतियोंमें अनेक प्रकारकी दशाओंको धारण करता है। जव पूर्वोक्त वन्धनोंसे जीव सर्वथा मुक्त हो जाता है तव वह निर्लेप होकर तथा उर्ध्व गमन करके चतुर्दश राजलोकके अन्त भागमें जहाँ पर सिद्धात्मा रहते हैं वहाँ-पर परमात्म रूप तया जा विराजता है। जिस तरह मिट्टी आदिके भार सहित कोई एक तूंवा पानीमें दवा हुआ हो और किसी प्रयत्नसे उसका वह भार दूर किया जाय तव उस तूंवेकी जैसे उर्ध्व गमन करनेकी शक्ति प्रगट हो जाती है, यद्यपि वह उर्ध्व गमनकी शक्ति प्रथम भी उस तूंवेके अन्दर ही थी, किन्तु उसके साथ जो भार लगा हुआ था उसने उस शक्तिको दवाया हुआ था, अतः अव उस भारके दूर होनेसे उस शक्तिका प्रादुर्भाव हो गया। वस वैसे ही आत्माका स्वभाव भी उर्ध्व गति करनेका है,

मगर उसका वह स्वभाव या शक्ति कर्मरूप भारसे दबी हुई है। आत्माके साथ अनादिकालसे लगे हुए पूर्वोक्त कर्म बन्धनरूप भारका अभाव होनेसे उसकी सहज स्वाभाविक अनन्त शक्ति प्रगट हो जाती है। ध्यानी पुरुषको अपनी निन्दा स्तुति सुनकर सदा काल मध्यस्थ भावमें रहना चाहिये, क्योंकि संसारके तमाम जीव कर्मवश हैं, कर्मके अन्दर तारतम्यता होनेसे जीवोंकी प्रकृतियोंमें भी तारतम्यता होती है। कितने एक मनुष्योंका स्वभाव दूसरेके गुण ही ग्रहण करनेका होता है और कितने एक मनुष्योंकी प्रकृति गुणोंमेंसे भी दूषण ही ग्रहण करनेकी होती है। जिन जीवोंकी स्थिति संसारमें अधिक परिभ्रमण करनेकी होती है, वे जीव क्रोध, मान, माया, लोभ के वश होकर अपने स्वरूपको भूल जाते हैं और एकदम बिना ही विचार किये दूसरोंकी निन्दा चुगली करनेमें उतर पड़ते हैं। किन्तु इससे वे अपने पुण्यरूप धनको नष्ट करके इस भवमें तथा परभवमें अनेक प्रकारके दुःखोंका अनुभव करते हैं, इसलिए निन्दक मनुष्योंके गर्हित वचन सुनकर सदैव मध्यस्थ भावमें रहना चाहिये। जीवको संसार चक्रमें परिभ्रमण करानेवाले ५७ सत्तावन हेतु शास्त्रकारोंने फरमाये हैं, सो नीचे मुजब समझना, २५ पच्चीस कषाय–क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार मूल कषाय हैं, इनके उत्तर भेद सोलह होते हैं, अनन्तानुबन्धि क्रोध, अप्रत्याख्यानीय क्रोध, प्रत्याख्यानीय क्रोध, संज्वलन क्रोध, अनन्तानुबन्धि मान, अप्रत्याख्यानीय मान, प्रत्याख्यानीय मान, संज्वलन मान, अनन्तानुबन्धि माया, अप्रत्याख्यानीय माया, प्रत्याख्यानीय माया, संज्वलन माया, अनन्तानुबन्धि लोभ, अप्रत्याख्यानीय लोभ, प्रत्याख्यानीय लोभ, संज्वलन लोभ, ये सोलह कषाय, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगंच्छा, स्त्रीवेद,

पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद, ये नव नोकषाय । एवं २५ पच्चीस कषाय होते हैं । ये पच्चीस कषाय आत्मीय गुणको प्रगट होनेमें रुकावट करते हैं इतना ही नहीं किन्तु आत्माको सदा काल कर्म-रूप उपाधीसे आच्छादित करते रहते हैं।

पंद्रह योग होते हैं, सत्य मन योग, असत्य मन योग, मिश्र मन योग, व्यवहार मन योग, (अपेक्षासे सत्य भी नहीं तथा अपेक्षासे असत्य भी नहीं) सत्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा, व्यवहार भाषा, औदारिक शरीर (सात धातुओंसे बना हुआ मनुष्य तथा तिर्यंचोंका शरीर) औदारिकमिश्र शरीर–औदारिक शरीर पैदा होते समय कार्मण शरीरके साथ औदारिक पुद्गलोंकी मिश्रता होनेसे औ-दारिकमिश्र शरीर होता है। वैक्रिय शुभाशुभ शरीर–शुभ तथा अशुभ पुद्गलोंसे बना हुआ नारकी तथा देवताओंका वैक्रिय शरीर। वैक्रियमिश्र शरीर–वैक्रिय शरीरकी जब उत्पत्ति होती है उस वक्त जीव उत्तर वैक्रिय करता है, उस समय जो मिश्रता रहती है उसे वैक्रियमिश्र कहते हैं। आहारक शरीर–पूर्वधर मुनि महात्मा अपने मनोगत संशयको दूर करनेके लिए अपनी शक्तिसे एक पुतला बनाकर और उसमें अपने आत्म प्रदेशोंका प्रक्षेप करके उसे केवल ज्ञानी महात्माके पास भेजता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। आहारकमिश्र शरीर–पूर्वोक्त पुतलेको बनाते समय तथा संहरण करते जो मिश्रता रहती है, उसे आहारकमिश्र कहते हैं। कार्मणकाय योग–जिस समय जीव पूर्व शरीरको त्याग कर दूसरे शरीरमें जाता है, उस समय भी यह कार्मण शरीर जीवके साथ रहता है, इस शरीरमें कर्मवर्गणाओंका संचय रहता है, जब तक जीव संसा-रमें रहता है तब तक चारों ही गतिमें कार्मण शरीर जीवके साथ सदा काल रहता है। ये पूर्वोक्त पन्द्रह योग सदा काल कर्म वर्गणा-

ओंका आकर्षण किया करते हैं।

बारह अव्रत-पाँच इन्द्रियाँ छठा मन, इन छओंको नियममें न रखना तथा छकायके वध करनेका नियम न करना, इनको बारह अव्रत कहते हैं। ५ पाँच मिथ्यात्व-प्रथम अभिग्राहिक मिथ्यात्व-असत्यमार्ग (असत्यश्रद्धान) को दृढतासे धारण कर रक्खे। दानांतराय, लाभांतराय, वीर्यांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, हास्य, रति, अरति, भय शोक, निंदा, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान, निद्रा, अविरति, राग, द्वेष। इन अठारह दूषणों सहित देवको सत्य देव तरीके माने तथा पूर्वोक्त अठारह दूषण रहित सत्य देवको असत्य देव तरीके माने। सद्गुरुके गुणोंसे रहित और दुर्गुणोंसे परिपूर्ण पाखंडीको सद्गुरु तरीके माने, एवं सर्वज्ञ देवके कथन किये दयामय परम पवित्र धर्मको छोड़कर अल्पज्ञके कथन किये हुए हिंसात्मक धर्मको सत्य धर्म माने। पूर्वोक्त तीनों तत्वोंको कदाग्रह पूर्वक ग्रहण करे, उसे अभिग्राहिक मिथ्यात्व कहते हैं। दूसरा मिथ्यात्व है अनाभिग्राहिक, सुदेव, कुदेव, सुगुरु, कुगुरु, सुधर्म, कुधर्म आदि तत्वोंको समान दृष्टिसे देखे, सत्यासत्यमें किसी प्रकारका भेद न समझ कर सबको एक ही समान समझे, उसे अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व कहते हैं। तीसरा अभिनिवेशिक मिथ्यात्व-कुदेव, कुगुरु, कुधर्म, कुशास्त्र वगैरहको सत्य तया मानता हो परन्तु किसी सद्गुरुका संयोग मिलनेसे उसे सत्य देव गुरु धर्मका ज्ञान हो गया हो और यह भी मालूम हो गया हो कि मेरा मन्तव्य सरासर असत्य है, तथापि लोक लिहाजसे उस असत्य मन्तव्यको न छोड़े, उसे अभिनिवेशिक मिथ्यात्व कहते हैं। चौथा सांशयिक मिथ्यात्व-कितने एक मनुष्य पूर्वकृत सुकृतके प्रभावसे परम पवित्र सर्वज्ञ देवके कथन

किये जैन धर्मको तो प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु बुद्धिकी मन्दता होनेके कारण सूक्ष्म पदार्थ समझमें न आनेसे सर्वज्ञ देवके कथनमें उन्हें शंका रहती है, वे मनमें विचारते हैं कि प्रभुने साधारण वनस्पतिमें एक शरीरमें अनन्त जीव फरमाये हैं, भला यह बात किस तरह संभवित हो सकती है ? इत्यादि कितनी एक बातोंमें पूर्वोक्त रीतिसे शंका रखनेवाले मनुष्यको सांशयिक मिथ्यात्व होता है। पाँचवाँ अनाभोगिक मिथ्यात्व—जो एकान्त जड़ बुद्धिवाले महा मूढ प्राणी होते हैं, जो धर्म या अधर्मको समझनेमें तो सर्वथा असमर्थ ही हैं, किन्तु धर्माधर्मका नाम तक भी नहीं समझ सकते, ऐसे एकेन्द्रियादि जीवोंमें अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है ॥ ये पूर्वोक्त सत्तावन हेतु जीवको संसारमें परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आज्ञाविचय ध्यान बड़ा गहन और विस्तारवाला है, ध्यानी पुरुषको इससे अवश्य परिचित होना चाहिये। पूर्वोक्त जिनेश्वर देवकी आज्ञा पूर्वक जो ध्यान किया जाता है उसे धर्म ध्यानका आज्ञाविचय नामक प्रथम पाया कहते हैं ॥

धर्म ध्यानका दूसरा पाया अपायविचय नामक है। ध्यानी मनुष्यको यह विचार करना चाहिये कि मेरी आत्मा सदा काल सुख इच्छती है और अनादिकालसे सुख प्राप्तिके लिए अनेकानेक उपाय भी किया करती है तथापि सुखके बदलेमें दुःखोंकी ही परंपरा कायम रहती है और सुख प्राप्तिके किये हुए उपाय भी सब निष्फल चले जाते हैं। मेरी आत्माके अन्दर अनन्त अव्याबाध सुख रहा हुआ है, उस सुखकी प्राप्तिमें विघ्नरूप और मेरे किये हुवे अनेक उपायोंको निष्फल करनेवाला अवश्य कोई न कोई शत्रु होना चाहिये। मेरी आत्मसत्ताको प्रगट होनेमें रुकावट करनेवाला कोई बाह्य शत्रु नहीं है, किन्तु अनादिकालसे

मेरे पीछे लगा हुआ अभ्यन्तर कर्म शत्रु है। वह अभ्यन्तर कर्म शत्रु मेरे अन्दर ही बैठा हुआ मेरे किये हुए उपायोंको सहजमें ही निष्फल कर डालता है। इस अभ्यन्तर कर्मशत्रुने ही मेरे बाह्य शत्रु बनाये हुए हैं और यह शत्रु मुझे अनादि कालसे अनेक प्रकारके दुःख दे रहा है। यही मुझसे इस संसाररूप नाटकमें नाटक पात्रके समान अनेक प्रकारके वेश भजवा रहा है। जैसे मदारी अपने वशीभूत वन्दरसे जैसा नाच नचावे वैसा ही उसे नाचना पड़ता है, बस उसी तरह इस कर्मरूप मदारीने जीवको अपने वश करके वन्दरके समान बना रक्खा है। यह कर्म कलंदर जीवसे नाना प्रकारके नाच नचाता है। इस अभ्यन्तर कर्म शत्रुने अपने साथमें सैन्य वगैरह बहुतसा बल दल इकट्ठा किया हुआ है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष ईर्षा आदि सैन्य द्वारा यह शत्रु सदा काल आत्माको दुःख दे रहा है, सो भी एक भवमें नहीं किन्तु अनन्त भवोंसे पीछे पड़ा है, एक भवमें भी पीछा नहीं छोड़ता। अतः जब तक यह कर्म शत्रु पराजित न हो तब तक आत्माको वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। मुख्य तया आत्माको अपाय (कष्ट) देनेवाला एक महा मोहनीय कर्म है, इसके सहचारि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, तथा अन्तराय कर्म भी इसके साथ ही रहते हैं। जब यह मोहनीय कर्म शत्रु जीत लिया जाय तब इसके सहचारि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय कर्म इसके साथ ही पराजित हो जाते हैं। बाकी रहे आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्म शत्रु, ये चारों ही पूर्वोक्त मोहनीय कर्म शत्रुके पराजित होने पर निर्बल होकर स्वयमेव ही नष्ट हो जाते हैं। फिर संसारमें रह कर आत्माको कभी भी अपाय भोगनेका समय नहीं आता। अपायविचय धर्म ध्यानके ध्याताको इस बातका विचार

करना चाहिये कि अनादि कालसे जीवको अनन्त दुःखोंका अनुभव करानेवाले कर्मोंका विनाश किस प्रकार हो सकता है, मैं उस उपायको शोध कर उसमें तत्पर होऊँ। इस तरहके विचार करनेसे आत्मा आश्रव (कर्मबन्ध) से मुक्त होकर कर्मोंकी हानी करती है और इसी क्रमसे आत्मीय सुखके उपायोंमें संलग्न होकर मोक्षाधिकारी बनती है।

धर्म ध्यानका तीसरा पाया विपाकविचय नामक है। तमाम जीवोंकी सत्ता एक समान ही है, तथापि संसारमें कितने एक मनुष्य धनाढ्य, कितने एक भिखारी कंगाल देख पड़ते हैं। कितने एक विद्वान, कितने एक मूर्ख देखनेमें आते हैं, एवं कितने एक मनुष्योंको अनेक प्रकारके भोगोंसे सुखी और कितने एक प्राणियोंको अनेक प्रकारके रोगोंसे दुखी देखते हैं। संसारमें कोई भी प्राणी अपने प्रति दुःख नहीं इच्छता तथापि अनेक प्रकारके भावों, अनेक प्रकारकी आकृतियों तथा अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियोंको धारण करता है, यह सब कर्मके विपाकोदयका ही फल है। कर्मके प्रभावसे जीव दो प्रकारका विपाक-फल भोगता है। जिसमें एक मधुर और दूसरा कटु। पुण्य फलविपाक मधुर और पाप फलविपाक कटु समझना। पूर्वोक्त दोनों ही विपाक शुभाशुभ कर्म जन्य हैं। जिस वक्त जीवके पूर्वकृत शुभ कर्मका विपाकोदय होता है, उस वक्त यदि उस सुखप्रद विपाकको जीव समभाव तया भोग लेवे, तो उस विपाकोदयसे आगेके लिए कर्मबन्ध नहीं होता और यदि जो उस विपाकोदयको भोगते हुए उसमें विसंभाव हो जाय, तो उससे भविष्यकालमें कटु विपाक फल देनेवाला अंकूर फूट निकलता है। इसी तरह अशुभ कर्मका विपाकोदय होने पर यदि उसे समभावसे

भोग लिया जाय, तो वह कर्म उतनेसे ही खतम हो जाता है और यदि विसंभावसे भोगा जाय याने हाय तोवा मचाकर भोगे, तो उससे भी पूर्वकी तरह भविष्यकालमें कटु फल चखानेवाला अंकूर फूट निकलता है, क्यों कि विसंभावसे कषायोंका सद्भाव हो जाता है और कषायोंके उदयसे अवश्य ही कटु फल प्रदायक बन्ध होता है। वस इसी प्रकार शुभाशुभ कर्मरूप लता बढ़ती रहती है, इसी तरह अनादि कालसे जीवने अनन्त भवोंमें अनन्त दुःख और मनकल्पित सुख भोगा है, परन्तु आज तक इस जीवकी दुःखों तथा मनकल्पित सुखोंसे तृप्ति नहीं हुई। जिस तरह संसारमें दिनके अभावसे रात्रि और रात्रिके अभावसे दिन होता है, वैसे ही आत्माके साथ जो कर्म वर्गणाके पुद्गल लगे हुए हैं, उनमेंसे जब कुछ अशुभ कर्मोंका अभाव होता है तव शुभ कर्मोंकी वृद्धि और जव शुभ कर्मोंका अभाव होता है तव अशुभ कर्मोंकी वृद्धि होती है। इस प्रकार शुभाशुभ कर्मबन्धकी परंपरा कायम रहनेसे जीव संसारसे मुक्त नहीं हो सकता, क्यों कि आत्माके साथ शुभाशुभ दोनों ही प्रकारके कर्मोंका वियोग होनेसे आत्माका शुद्ध स्वरूप प्राप्त होता है, अर्थात् शुभाशुभ दोनों ही प्रकारके कर्मोंका अभाव होनेसे आत्मा संसारसे मुक्त हो सकती है अन्यथा नहीं। संसारमें अमूल्य चिन्तामणि रत्नसे भी बढ़कर मनुष्य जन्मको प्राप्त करके मनुष्योंको बड़ी गंभीर वृत्तिसे अपने जीवनको व्यतीत करना चाहिये। तुच्छ स्वभाववाले मनुष्य दूसरोंकी हँसी मजाक कुतूहल वगैरह करके उनके दिलको दुखा कर अनेक प्रकारके कटुफल देनेवाले कर्म बाँध लेते हैं और उन कर्मोंके प्रभावसे भवान्तरमें अनेक सुखप्रद वस्तुओंकी हानी प्राप्त करते हैं।

जो मनुष्य चार प्रकारकी विकथा सुनकर अतीव खुश होते हैं, सत्यको असत्य और असत्यको सत्य ठहरा कर खुशी मनाते हैं, बधिर मनुष्योंकी हँसी उड़ा कर या उन्हें खिजा कर आप खुश होते हैं, सत्य देव प्रणीत मार्ग प्रदर्शक शास्त्रोंका श्रवण न करके उन्मार्ग प्रवृत्तिको बढ़ानेवाले शास्त्रोंका श्रवण करते हैं और विचारे दीन दुखियोंके करुणामय वचन सुनकर उनकी मस्करी उड़ा कर सुख मानते हैं, वे मनुष्य भवान्तरमें श्रवणेन्द्रियकी हीनता प्राप्त करते हैं। पूर्वोक्त कृत्यसे विपरीत सत्य धर्म शास्त्रोंका श्रवण करके शास्त्रोक्त वचनों पर यथायोग्य श्रद्धा करे, दीन हीन मनुष्योंके करुण वचन सुनकर उनके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करे या उन्हें मधुर मीठे वचनोंसे संतोष पहुँचावे, गुणवान मनुष्योंके गुण श्रवण करके उनपर अनुराग बुद्धि धारण करे, गुणवान पुरुषोंकी निन्दा चुगली न करे और न ही करावे, इससे मनुष्य श्रवणेन्द्रियकी पुष्टता निरोगता तथा प्रबल शक्तिता प्राप्त करता है। जो मनुष्य स्त्री पुरुषोंका मनोहर रूप लावण्य देख कर विषयोंमें अतीव मन लगाते हैं, रूपहीन स्त्री पुरुषोंको देख कर मनमें बड़ी घृणा दुगंच्छा करते हैं या उनका तिरस्कार करते हैं अथवा उनकी हँसी मस्करी उड़ाकर मनमें खुशी होते हैं, पाखंडियोंके शास्त्र पढ़ते हैं, अथवा जिन पुस्तकोंके वाँचनेसे अधर्ममें मनकी प्रवृत्ति हो ऐसे पुस्तक वाँचते हैं या सदा काल नाटकादिके देखनेमें ही मग्न रहते हैं, पशु पक्षियोंकी आँखोंको पीड़ा पहुँचाते हैं या मनुष्योंको अंधे कह कर उनका दिल दुखाते हैं या किसीकी आँख फोड़ डालते हैं अथवा दूसरोंसे किसीको अंधा कराते हैं या चक्षु इन्द्रियके विषयोंमें मस्त होकर उसमें ही जिन्दगीकी सफलता समझते हैं, वे मनुष्य भवान्तरमें चक्षुरिन्द्रिय नहीं प्राप्त करते और यदि

किसी पुण्यके प्रभावसे कदाचित् प्राप्त भी करलें तो वे फिर काणे या अन्धे अथवा और भी कई प्रकारके आँखोंके रोगवाले हो जाते हैं। इससे विपरीत साधु साध्वी या अन्य किसी धर्मिष्ठ मनुष्य तथा प्रभुकी प्रतिमाके दर्शन करके आनन्द मनाता हो, हृदयमें वैराग्य भाव पैदा करानेवाले शास्त्रोंका अवलोकन करता हो, तो वह प्राणी विशाल दृष्टिवाले नेत्र प्राप्त करता है, उसकी चक्षुरिन्द्रियमें प्रबल शक्ति और निरोगता रहती है। जो प्राणी अतर, तेल, फुलेल, मोगरा, केवड़ा वगैरह सुगन्धित पदार्थोंमें मस्त रहता है और दुर्गन्धित पदार्थोंके ऊपर द्वेष धारण करता है, नकटे गूंगे नाक हीन मनुष्योंको देख कर उनकी हँसी मस्करी उड़ाकर खुश होता है, वह प्राणी भवान्तरमें नासिका इन्द्रियकी हीनता प्राप्त करता है, यदि किसी सुकृतके प्रभावसे उसे नासिका प्राप्त भी हो जाय तो वह अनेक प्रकारके रोगोंसे गल सड़ जाती है। पूर्वोक्त कृत्योंसे विपरीत—नकटे गूंगे नाक हीन प्राणियोंको देख कर उन पर करुणा भाव धारण करे, यथाशक्ति उन्हें मदद पहुँचावे, तो वह प्राणी भवान्तरमें सुन्दर नासिका प्राप्त करता है और उसकी नासिका—शक्ति प्रबल होती है तथा सर्व प्रकारसे उसकी नासिकाइन्द्रिय निरोग रहती है। जो प्राणी मांस वगैरह अभक्ष पदार्थोंका भक्षण करता है, मदिरा वगैरह अपेय पदार्थोंका पान करता है और रात दिन उन पदार्थोंके आस्वादमें लोलुप होकर आनन्द मनाता है, जीभके स्वादके लिए अनेक प्रकारकी अनन्तकाय और प्रत्येक वनस्पतिका आरंभ समारंभ करता है, लोकमें हिंसा वर्धक उपदेश देता है, दूसरे प्राणियोंको मार्मिक वाक्य बोल कर उनके दिलको दुखाता है या किसीकी असत्य निन्दा चुगली करके उन्हें त्रास पहुँचाता है, देव

गुरु धर्म तथा गुणवान पुरुषोंकी निन्दा करता है, तोतले मनुष्योंको देख कर उनकी हँसी मस्करी उड़ाकर खुश होता है, वह प्राणी भवान्तरमें रसना (जीभ) इन्द्रियकी हीनता प्राप्त करता है और यदि अभक्ष तथा अपेय पदार्थोंका परित्याग करे और रसवाले पदार्थोंमें अत्यन्त लोलुपता न रक्खे, जबानसे असत्य वचन न बोले, दूसरोंको प्रीतिकारक वाक्य बोले, रसनाइन्द्रिय हीन प्राणियोंको देख कर उन पर दयाभाव धारण करके उन्हें यथाशक्ति सहायता देवे, तो उसे रसना इन्द्रिय सर्वथा रोगरहित और लावण्यमयी प्राप्त होती है। जो मनुष्य लूले लँगड़े प्राणियोंको देख कर उनकी हँसी उड़ाता है या कुतूहल वश हो उन्हें पीड़ा देता है, वह मनुष्य भवान्तरमें लूले लँगड़ेपनेको प्राप्त होता है।

जो मनुष्य इस भवमें चोरी, दगाबाजी, ठगाईसे धन इकट्टा करता है, या जिससे हजारों प्राणियोंका दिल दुःखे, उस प्रकारके आरंभ समारंभसे धन पैदा करता है, धनाढ्य पुरुषोंकी ईर्षा करके उन्हें निधन इच्छता है, गरीब मनुष्योंकी आजीविका भंग करता है या उन्हें अनेक प्रकारकी दगाबाजीसे पेंचमें लेकर उनकी कमाईको लूट लेनेकी दानत करता है, बिचारे गरीब गुरबे जो अपना विश्वास करके अपनी अमानत—अपना सर्वस्व रख जाते हैं, उनकी उस अमानत या उनके सर्वस्वको हजम करता है, वह मनुष्य भवान्तरमें महादरिद्री और निधन होता है, जो गरीब प्राणियों पर दयाभाव रख कर उन्हें यथा सामर्थ्य सहायता पहुँचाता है, धनवान मनुष्योंको देख कर उनकी ईर्षा नहीं करता और खुद प्राप्त की हुई लक्ष्मीको सन्मार्गमें व्यय करता है तथा उससे मनमें गर्व धारण नहीं करता, गरीब गुरबोंको मदद करता है, उस लक्ष्मीको सर्वज्ञ देवके कथन किये हुए सात क्षे-

ओंमें खर्चता है तथा अन्य भी किसी परोपकारमें व्यय करता है, वह मनुष्य भवान्तरमें लक्ष्मीपात्र होता है।

जो मनुष्य दूसरोंको असत्य दूषित बना कर या असत्य कलंक देकर उन्हें चिन्तातुर करता है, वह भवान्तरमें सत्य कलंकका भागी बन कर सदा काल चिन्ता समुद्रमें निमग्न रहता है और लोकमें अनेक प्रकारकी कदर्थनाओंको प्राप्त होता है।

जो मनुष्य परमात्मा, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका तथा ज्ञानवान परोपकारी गुणवान पुरुषोंकी प्रशंसा सुन कर खुश होता है तथा उनका विनय बहुमान करता है, वह भवान्तरमें मान सन्मानका पात्र होता है। जो मनुष्य दूसरे जीवोंको सन्मार्गमें जोड़ता है, वह भवान्तरमें धर्मात्मा होता है, उसे बड़ी सुगमतासे धर्मकी प्राप्ति होती है और जो मनुष्य दूसरे जीवोंको धर्मसे पतित करता है, वह जन्मान्तरमें स्वयं अधर्मी पापीष्ट बनता है। जिस जगह पर पशु वध किये जाते हैं या जहाँ पर अपराधि मनुष्योंको सूली या फाँसी दी जाती है, उस समय उस जगह बहुतसे मनुष्य इकट्ठे हो जाते हैं और पशु वधकी क्रिया या मनुष्य वधकी क्रियाके देखनेमें तल्लीन होकर ऐसा विचार करते हैं कि यदि इस मनुष्यको जलदी सूली दी जाय तो हम देख कर जल्दी घर चलें। ऐसे विचार मेरठ शहर प्रभृति अनेक स्थलोंमें दसहरेके मेले पर सन्ध्या समय रावणको फूँकनेसे प्रथम हजारों ही मनुष्योंके हृदयमें पैदा होते हैं। इन विचारोंसे वे सबके सब मनुष्य सामुदायिक आयु कर्म बाँध लेते हैं और उस सामुदायिक आयु कर्मके बन्धसे भवान्तरमें उन सबकी एक ही समय मृत्यु होती है। जिस तरह समुद्र या नदी मार्गको तह करते हुए कभी कभी जलमें स्टीमर या नाव डूब जाती है,

उस वक्त उस स्टीमर या नावमें जितने आदमी बैठे होते हैं उन सबकी एक समय ही मृत्यु होती है, बड़े बड़े शहरोंमें जो आज कल महामारि प्लेगमें एकदम सैकड़ों मनुष्योंकी मृत्य होती है, वह सब सामुदायिक आयु कर्मसे ही होती है।

जो मनुष्य सर्व जीवों पर दयाभाव रख कर हीनसत्व जीवोंको अनेक प्रकारसे सहायता देकर उन्हें सुख पहुँचाता अथवा क्रूर मनुष्यों या अन्य जीवोंसे मरते हुए प्राणियोंको अपनी सत्तासे या द्रव्यसहायतासे बचाता है, वह मनुष्य भवान्तरमें निरोगी शरीरवाला होकर सदा काल सुख संपदाको भोगता है।

जो मनुष्य वैद्य या डाक्टर बनकर दूसरोंके साथ विश्वास घात करता है, विधवा स्त्रियोंको गर्भ रह जानेपर अपनी जेब भरके उनके गर्भको गर्म दवा देकर नष्ट करता है या लोभके वश रोगीको रोग बढ़ानेकी दवा देता है, ज्योतिषी बन कर ग्रह, नक्षत्र, भूत, प्रेत, व्यन्तर, व्याधि वगैरहका डर बता कर दूसरोंको लूटके अपना पेट भरता है, वह मनुष्य भवान्तरमें महादुःखोंका पात्र होता है तथा अनेक प्रकारके उपाय सेवन करने पर भी उसका शरीर सदा काल रोग ग्रसित ही रहता है।

इस तरह कर्म बन्ध तथा उसको भोगनेके शास्त्रमें अनेक प्रकार बतलाये हैं। इस भवमें बाँधे हुए कर्म कितने एक तो इसी भवमें भोग लिये जाते हैं और कितने एक आगामि भवमें भोगने पड़ते हैं तथा कितने एक कर्म बहुतसे भवोंतक भोगने पड़ते हैं। अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ देवने संसारमें परिभ्रमण करनेवाले समस्त प्राणियोंकी कर्मविपाकोदय समय जो दशा अपने अद्वितीय ज्ञान चक्षुसे देखी है, उसे वे वचन द्वारा संपूर्ण तया कथन नहीं कर सकते, क्यों कि चतुर्गतिरूप संसारमें अनन्त प्राणी भरे हुए हैं

और उसमें एक एक प्राणीके साथ अनन्त कर्म वर्गणा लगी हुई हैं, इसी तरह एक एक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वगैरह पर्यायोंका अनन्त विस्तार हो सकता है। ऐसे गहन विषयक विपाक विचय नामक धर्म ध्यानके तीसरे पायेका धर्म ध्यानीको यथाशक्ति चिन्तवन करना चाहिये, क्योंकि इसका चिन्तवन करनेसे मनुष्य कर्मोंकी विचित्रतासे परिचित होता है और कर्मोंका स्वरूप समझ कर मनुष्य कर्म वन्धसे वच कर पूर्वसंचित कर्म समूहको ज्ञान ध्यानानलसे नष्ट करके अनन्त शाश्वत सुखका भोगी वनता है।

धर्म ध्यानका चतुर्थ पाया संस्थान विचय नामक है। संस्थानका अर्थ आकृति और विचयका मायना विचार होता है, अर्थात् जिसमें जगतके समस्त पदार्थ स्थित हैं, उसकी आकृतिका विचार करना। उसकी कैसी आकृति है और किन किन स्थानोंमे किन किन पदार्थोंकी किस किस स्वरूपमें स्थिति है, इत्यादिका विचार—चिन्तवन करना, उसे संस्थान विचय नामक धर्म ध्यान कहते हैं। अनन्त आकाश रूप एक विशाल विस्तीर्ण क्षेत्र है। उस विस्तीर्ण क्षेत्रका अन्त ही नहीं है, उस अनन्त आकाश रूप विशाल क्षेत्रको अलोक कहते हैं। उस अलोकके मध्य भागमें ३४३ राज घनाकार लंवी चौड़ी जगहमें जीव अजीव रूपी अरूपी पदार्थरूप एक पिण्ड है, उसे लोक कहते हैं। यह लोक सातवीं नरककी अन्तिम तह पर सात राज लंबा चौड़ा है और वहाँसे ऊंचाईमें जब सात राज ऊपर आते हैं तव एक राज लंबा चौड़ा रहता है, वहाँ पर मध्यलोक नामक लोक आता है। जिसमें मनुष्य तथा पशुओंके जन्म मरण होते हैं, उसे मध्यलोक कहते हैं। यह मध्यलोक एक राज विस्तीर्ण है, इसमें असंख्य द्वीप समुद्र हैं। अव मध्यलोकसे ऊपर चलिये, मध्य लोकसे जब

तीन राज ऊपर जायें तव ब्रह्म देवलोक नामा पाँचवाँ देवलोक आता है। जब बारहवें अच्युत नामक देवलोक तक पहुँचते हैं तब वहाँ पर क्रमसे बढ़ती बढ़ती लोककी पाँच राज लंबाई चौड़ाई आती है। वहाँसे फिर तीन राज ऊपर जाते हुए क्रमसे घटती घटती एक राजकी लंबाई चौड़ाई रहती है। उसके ऊपर लोकाग्र मोक्ष स्थान है।

जिस तरह नीचेसे दोनों पैर चौड़े करके और दोनों हाथोंको दोनों तर्फके कटी भागोंपर रख कर शरीरमें जामा पहन कर कोई मनुष्य खड़ा हो, उस मनुष्यकी जैसी आकृति उस वक्त देख पड़ती है, बस वैसी ही आकृतिवाला यह लोकाकाश ज्ञानी पुरुषोंने फरमाया है। इस विषयका विशेष वर्णन भगवती सूत्रमें किया है। पूर्वोक्त लोकके मध्य भागमें एक राज लंबी चौड़ी और सातवीं नरकसे मोक्ष स्थान पर्यन्त ऊंची, सीढ़ीके आकारवाली एक त्रसनाल है। उस त्रसनालके अन्दर त्रस तथा स्थावर दो प्रकारके जीव भरे हुए हैं और बाकीके लोकमें केवल स्थावर ही जीव भरे हुए हैं। पूर्वोक्त त्रसनालके अन्दर मध्यलोकसे नीचे सात राज पर्यन्त सात नरक स्थान हैं। जब जीवकी असंख्य पापराशि इकट्ठी होती हैं तव वह जीव अपने पाप कर्मके अनुसार उन नरक स्थानोंमें जन्म धारण करके वहाँ पर चिरकाल पर्यन्त रह कर मध्यलोकमें उपार्जन किये हुए अशुभ कर्मके दलियोंका अति दारुण दुःख रूप फल भोगता है। मध्यलोकके मध्य भागमें एक लाख योजन ऊंचा और दश हजार योजन नीचे विस्तारवाला स्थंभाकार एक मेरुपर्वत नामा पर्वत है, उसे कंचनगिरि भी कहते हैं। मेरुपर्वतके चारों तर्फ चूड़ीके आकारवाला गोल और एक लाख योजन लंबा चौड़ा जंबू नामका एक द्वीप है। उस जंबू द्वीपके चारों तर्फ चूड़ीके

समान गोल दो लाख योजन चौड़ा लवण समुद्र है। लवण समुद्रके चारों ओर गोल आकारवाला और चार लाख योजन चौड़ा धातकीखंड नामा द्वीप है। धातकीखंड द्वीपके चारों ओर पूर्वोक्त चूड़ीके आकारवाला और आठ लाख योजन चौड़ा कालोदधि नामक समुद्र है। कालोदधि समुद्रके चारों तर्फ सोलह लाख योजनकी चौड़ाईवाला पुष्कर द्वीप है। इस तरह एक एकके चारों तर्फ और एक दूसरेसे दो गुणी चौड़ाईको धारण करनेवाले स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्य द्वीप समुद्र हैं। स्वयंभूरमण समुद्र लोकके अन्तमें आता है, इस लिए वहाँ पर द्वीप समुद्रोंकी अवधि आ जाती है, उससे आगे अलोकाकाश होनेके कारण वहाँ पर जीव अजीवकी स्थिति या गति नहीं हो सकती; अर्थात् जीवाजीवकी गति या स्थिति केवल लोकाकाशमें ही हो सकती है। समस्त असंख्य द्वीप समुद्रोंकी संख्या करने पर अन्तिम स्वयंभू रमण समुद्रकी संख्या तीन लाख योजनकी अधिक होती है। पूर्वोक्त पुष्कर द्वीपके अन्दर मध्य भागमें गोल आकारवाला चूड़ीके समान मानुष्योत्तर नामका एक पर्वत है, इस लिए पुष्कर द्वीपके गोल आकारवाले चूड़ीके समान दो विभाग पड़ते हैं। उन दो विभागोंमेंसे मध्यके भागमें ही मनुष्योंकी वसति है, बाहरके भागमें पशु वगैरह जीव रहते हैं। इस प्रकार जंबूद्वीप, धातकीखंड और आधा पुष्करद्वीप मिलकर यह ढाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र कहा जाता है, अर्थात् पूर्वोक्त ढाई द्वीपोंमें ही मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है अन्य द्वीपोंमें नहीं। जंबूद्वीपके मध्य भागमें मेरु पर्वत है, मेरु पर्वतकी जड़में चारों तर्फ सम भूमि है और अन्यत्र ऊंची नीची है, अतः मेरु पर्वतके समीपकी सम भूमिसे लेकर ७९०. सातसौ नव्वय योजन ऊपर तारा मंडल

विराजता है। तारा मंडलसे दश योजन ऊपर सूर्यका विमान है। सूर्यके विमानसे ८० अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमाका विमान है और उससे ऊपर बीस योजनके अन्दर सर्व ज्योतिषियोंके विमान हैं। चन्द्रमाका विमान सामान्य तया एक योजनका [1]इकसठिया छप्पन भागका लंबा चौड़ा है। सूर्यका विमान सामान्य तया एक योजनका इकठिया अड़तालीस भागका लंबा चौड़ा है और ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओंके विमान क्रमसे दो कोस, एक कोस और आधा कोसके परिमाणवाले हैं। ढ़ाई द्वीपके याने मनुष्य क्षेत्रके ऊपरके ज्योतिषियोंके विमान अर्ध कविठ (आधेकैत) फलके समान संस्थानवाले हैं और ढ़ाई द्वीपसे बाहरके ज्योतिषियोंके विमान ईंटके समान आकृतिवाले हैं। वहाँसे कुछ कम सात राज जो ऊपर रहता है उसे उर्ध्वलोक कहते हैं। वहाँ-पर वैमानिक देवता पूर्वकृत असंख्य पुण्य राशिका सुखरूप फल भोगते हैं। उर्ध्वलोकमें बारह देवलोक कल्पवासी, नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानवासी हैं। पूर्वोक्त स्थानोंमें सब मिलकर ८४९७०२३ चौरासी लाख सत्तानवें हजार और तेईस विमान हैं। पुण्यकी अति अधिकता होनेपर ही पूर्वोक्त विमानोंमें जीव जन्म धारण करता है और वहाँ पर चिरकाल तक रहकर शुभ कर्मजन्य पाँचों इन्द्रियों संबन्धि सुखका अनुभव करता है। पूर्वोक्त कितने एक विमानोंके आकार चार कोनेवाले और कितने एक विमानोंके तीन कोनेवाले हैं। कितने एक विमान गोल आकारवाले भी हैं। सर्वार्थ सिद्ध विमानसे

---

१ एक योजनके इकसठ विभाग करनेपर उसमेंसे छप्पनवें विभागकी लंबाई चौड़ाईके परिमाणमें चन्द्र विमान है। इसी प्रकार अड़तालिसवाँ भाग सूर्यके लिए भी समझ लेना ॥

ऊपर कोई विमान नहीं है, वहाँसे बारह योजन ऊपर सिद्धशिला है। वह शिला स्फटिक रत्नके समान स्वच्छ और निर्मल है, उसकी लंबाई चौड़ाईका परिमाण ४५ पैंतालीस लाख योजनका है। सिद्धशिला अरजुन सुवर्णकी है और उसका आकार गोल है। जिस प्रकार एक कटोरा घीसे भरा हुआ हो और वह जैसे श्वेत गोलाकारमें देख पड़ता है, वैसे ही श्वेत गोल आकारवाली वह सिद्धशिला है। सिद्धशिलाके ऊपर एक योजनके चौबीसवें भाग जितनी जगहमें अनन्त सिद्धात्मा अचल अरूपी अवस्थामें अवस्थित हैं। सिद्धात्माओंके ऊपर लोकाकाशकी अवधि पूर्ण होनेके कारण सिद्धात्मा अलोकसे अड़कर रहते हैं।

जीवके छः संस्थान होते हैं। जिस संस्थान या आकारमें जिनेश्वर देवकी प्रतिमा होती है, उसे समचौरस संस्थान कहते हैं। जिस तरह कोई एक वड़का वृक्ष नीचेसे सपड़चट और ऊपरसे शाखा प्रशाखाओंसे लह लहाया सुशोभित देख पड़ता है, वैसे ही जो शरीर कटी भागसे नीचे अशोभनीय और ऊपरसे सुशोभित होता है, उस आकारको निग्रोध परिमंडल संस्थान कहते हैं। जैसे किसी वृक्षका ऊपरी भाग सूख जानेसे वह भद्दा मालूम पड़ता है और नीचेसे शाखा प्रशाखाओंसे शोभनीय देख पड़ता है, उसी प्रकार जो शरीर ऊपरसे अशोभनीक और नीचेसे सुन्दर आकृतिवाला होता है, उसे सादि संस्थान कहते हैं। ठिंगनी आकृतिवाले शरीरको वामन संस्थान कहते हैं। कमरमें या छातीमें कुवड़ापन होता है, उस शरीराकृतिको कुब्ज संस्थान कहते हैं। अर्ध दग्ध मुरदेके समान जो शरीर तमाम अवयओंसे खराव होता है, उसे हुंडक संस्थान कहते हैं। नरकमें, पाँच स्थावरोंमें, तीन विकलेन्द्रियोंमें (दो इन्द्रियसे चौरिन्द्रियवाले जीवोंको विकलेन्द्रिय कहते हैं) तथा असंज्ञी-

मन रहित तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवोंमें अन्तिम हुंडक संस्थान होता है। सर्व देवता, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव वगैरह उत्तम पुरुषोंको केवल एक समचौरस ही संस्थान होता है। पूर्वोक्त छः संस्थानोंमें कोई संस्थान ऐसा बाकी नहीं कि जिसे अनादि कालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए अपनी आत्माने प्राप्त न किया हो। पूर्वोक्त चतुर्दश राज परिमाणवाले तथा स्थिति, उत्पाद, व्ययात्मक अनन्तानन्त पदार्थोंसे परिपूर्ण अनादि अनन्त लोककी व्यवस्थाका जो चिन्तवन किया जाता है उसे संस्थान-विचय नामक धर्म ध्यानका चतुर्थ पाया कहते हैं।

एवं पूर्वोक्त आज्ञादि आलंबनों सहित धर्म ध्यानकी इस प्रमत्त गुणस्थानमें गौणता होती है, क्योंकि प्रमत्त गुणस्थानमें रहनेवाला प्राणी अवश्य प्रमाद युक्त होता है, अतः उसे निरालंबन ध्यान प्राप्त नहीं हो सकता। जो मनुष्य प्रमत्त गुणस्थानमें ही रहकर निरा-लंबन ध्यान करना चाहते हैं और लोगोंमें यह ख्यापन करते हैं कि हमें आलंबनकी आवश्यक्ता नहीं, हम तो निरालंबन ध्यान करते हैं, उन लोगोंका दूसरोंको भ्रममें डालनेके लिए केवल मिथ्या आडंवर मात्र ही है। इस बातको सिद्ध करनेके लिए शास्त्रकार फरमाते हैं-

यावत्प्रमादसंयुक्त स्तावत्तस्य न तिष्ठति।
धर्मध्यानं निरालम्ब मित्यूचुर्जिनभास्कराः॥२९॥

श्लोकार्थ-जब तक जीव प्रमाद युक्त रहता है तब तक उसे निरालंबन धर्मध्यान नहीं हो सकता, इस तरह श्री जिनेश्वर देवोंने कथन किया है।

व्याख्या-सर्वज्ञ देवने फरमाया है कि ध्यानी जब तक प्रमाद युक्त दशामें रहता है तब तक उसे निरालंबन धर्म ध्यान

कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमत्त गुणस्थानमें आज्ञादि अवलंवनों सहित मध्यम धर्मध्यानकी भी गौणता होती है, किन्तु मुख्यता नहीं, अतएव इस प्रमत्त गुणस्थानमें निरालंवन उत्कृष्ट धर्म ध्यानकी प्राप्तिका असंभव ही है। जो मनुष्य पूर्वोक्त सिद्धान्तिक वचन पर ध्यान न दे कर प्रमत्तावस्थामें भी क्रिया कांडका परित्याग करके निरालंवन धर्म ध्यानकी डींग मारते हैं, उन्होंके प्रति शास्त्रकार फरमाते हैं–

प्रमाद्यावश्यकत्यागा न्निश्चलं यानमाश्रयेत् ।
यो सौ नैवागमं जैनं वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ–जो प्रमादी आवश्यकके त्यागसे निश्चल निरालंवन ध्यानको आश्रय करता है, वह मिथ्यात्वसे विमूढ होकर जैनागमको नहीं जानता।

व्याख्या–जो प्रमादी मुनि, प्रमत्त अवस्थामें रहकर भी सामायिकादि षड़ावश्यक साधक अनुष्ठानको त्यागकर निश्चल निरालंवन ध्यान करता है, वह मुनि मिथ्यात्व भावसे विमूढ होकर जिनेश्वर देवके कथन किये हुए सिद्धान्तके रहस्यको नहीं जानता, अर्थात् वह साधु जैनागमके मर्मसे बिलकुल ही अनभिज्ञ है, अभी तक उसका हृदय मिथ्यात्वसे वासित है। क्योंकि जैन सिद्धान्तको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंने व्यवहार पूर्वक ही निश्चयको साध्य फरमाया है। परन्तु पूर्वोक्त प्रमादी मुनि तो व्यवहारको त्यागकर निश्चयको भी नहीं प्राप्त कर सकता, अतः वह दोनोंसे ही जाता है। सिद्धान्तमें फरमाया है कि–जइ जिणमयं पवज्जइ तामा ववहार निच्छएमुअह। ववहार न उच्छेए तित्थुच्छेओ जओ भणिओ ॥ १ ॥ अर्थ–जो मनुष्य जैन मतको अंगी-

कार करे उसको चाहिये कि वह व्यवहारको न छोड़े, क्योंकि व्यवहारका लोप होनेसे तीर्थका भी लोप हो जाता है। इसी तरह जो मनुष्य अधिकार प्राप्त किये विना ही उस अधिकार साध्य वस्तुको सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है, वह मनुष्य अन्तमें खेदको प्राप्त होकर अपने किये प्रयत्नको निष्फल करता है। फिर इसी वातको सिद्ध करनेके लिए यहाँ पर एक छोटासा दृष्टान्त लिखते हैं।

कोई एक आदमी कि जिसने गरीव हालत होनेके कारण जन्मसे लेकर आज तक क्षीर वगैरह श्रेष्ठ भोजनका आस्वाद प्राप्त ही नहीं किया, अपने घरपर सदैव कदन्न मात्रसे पेट भरता था। दैवयोग एक दिन किसी एक समृद्धिशाली मनुष्यने उसे अपने घर जीमनेके लिए न्यौता दे दिया। उस समृद्धिशाली मनुष्यने पूर्वोक्त गरीव आदमीको अपने घरपर बुलाकर वड़े प्रेमसे अपूर्व मेवा मिष्टान्न मिश्रित भोजन जिमाया। अव वह अवोध गरीव आदमी उस समृद्धिशालीके घरसंवन्धि भोजनका आस्वाद लेकर अपने घरके कदन्नसे घृणा करता है। अव उसे अपने घरका कदन्न भोजन नहीं रुचता। अव वह प्रतिदिन भूखा रह-कर उस एक दफाके प्राप्त किये हुए पराये घरके भोजनकी इच्छा करता है, परन्तु अव वह मेवा मिष्टान्न मिश्रित भोजन कहाँसे प्राप्त हो? इस तरह वह गरीव रंक अपने घरके कदन्न भोजनको त्यागकर और पराये घरके मिष्ट भोजनको प्राप्त न करके विचारा दोनों तर्फसे भ्रष्ट होकर खेदको प्राप्त होता है। बस ठीक उसी तरह पूर्वोक्त प्रमादी साधु प्रमत्त गुणस्थान साध्य जो स्थूलमात्र पुण्यकी पुष्टिका कारणभूत षड़ावश्यकादि क्रियाकलाप-कष्टानुष्ठान है, उसे न करता हुआ कदाचित्

दैवयोगसे अप्रमत्त गुणस्थान द्वारा प्राप्त होनेवाले निरालंबन तथा निर्विकल्प मनोजनित समाधिरूप ध्यानांश अमृत आहारका क्षणमात्र आस्वाद प्राप्त करके प्रमत्त गुणस्थानके योग्य जो षड़ावश्यक क्रिया कलाप है, उसे कदन्न भोजनके समान मानता हुआ रुचिसे ग्रहण नहीं करता। उससे घृणा करता है और मेवा मिष्टान्न मिश्रित श्रेष्ट भोजनके समान पूर्वोक्त निरालंबन ध्यानको प्रथम संहनन आदिके अभावसे सदा काल प्राप्त नहीं कर सकता। इस लिए सामायिकादि षड़ावश्यकको छोड़कर तथा निरालंबन ध्यानको न प्राप्त करके कदाग्रह-ग्रसित पूर्वोक्त विमूढ दोनों ही वस्तुओंसे खाली रहकर अपनी आत्माको कदर्थनाका भागी बनाता है।

परम संवेगरूप पर्वतके शिखरों पर आरूढ होकर बड़े बड़े आचार्योंने भी निरालंबन ध्यानकी प्राप्तिका मनोरथ ही किया है किन्तु प्राप्त नहीं किया, क्योंकि निरालंबन ध्यान सातवें अप्रमत्त गुणस्थानसे ही प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। पूर्वाचार्योंके अभिलाष-चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्भसं, तत्संहृत्य गतागतं च मरुतो धैर्यं समाश्रित्य च। पर्यंकेन मया शिवाय विधिवच्छून्यैक भूभृद्दरीमध्यस्थेन कदाचिदर्पितदृशा स्थातव्यमन्तर्मुखम् ॥ १ ॥ अर्थ-चित्तवृत्तिके निरोधसे इन्द्रियोंके समूहको निग्रह करके, आना जाना तथा प्राणवायुको बन्द करके, पर्यंक आसनसे धैर्यका आश्रय लेकर किसी एक पर्वतकी गुफाके अन्दर एकान्त स्थानमें निश्चल दृष्टि लगाकर विधि पूर्वक मोक्षके लिए अन्तर्मुहूर्त्त काल तक मुझे कभी ठहरना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त विधि पूर्वक निरालंबन ध्यानकी दशा मुझे कब प्राप्त होगी ?। चित्ते निश्चलतां गते प्रशमिते रागाद्यविद्या मदे, विद्रा-

णेऽक्षकुटुम्बके विघटिते ध्वान्ते भ्रमारम्भके। आनन्दे भविजृम्भिते जिनपते ज्ञाने समुन्मीलिते, मां द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमभितः शस्ताशयाः श्वापदाः ॥ २॥ अर्थ—चित्तकी निश्चलता प्राप्त होने पर, इन्द्रिय समूहके निग्रह होने पर, भ्रान्ति जनक सांसारिक आरंभ समारंभके नष्ट होने पर, आत्मसुखानन्दके प्राप्त होने पर तथा जिनेश्वर देव संवन्धि ज्ञानके स्फुरायमान होने पर वनमें ठहरे हुएको मुझे प्रशस्त आशयवाले होकर वनवासि पशु कव देखेंगे। अर्थात् पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त जंगलमें रहे हुए ध्यानावस्थामें मुझे जंगली पशु प्रशस्ताशयवाले होकर कव देखेंगे।

श्री सूरप्रभाचार्य महाराजके अभिलाष—चिदावदातैर्भवदागमानां, वाग्भेषजैरागरुजं निवर्त्य। मया कदा प्रौढ समाधि लक्ष्मी निवर्त्यते निर्वृत्ति निर्विपक्षा ॥ १ ॥ रागादि हव्यानिमुहुर्लिहाने, ध्यानानले साक्षिणी केवलश्रीः। कलत्रतामेष्यति मे कदैषा, वपुर्व्यपायेप्यनुयायिनी या ॥२॥ अर्थ—हे प्रभु! आपके आगमोक्त निर्मल ज्ञानरूप औषधके द्वारा राग (मोह) को दूर करके निर्वृत्ति निर्व्यपेक्ष प्रौढ़ समाधि लक्ष्मीको मैं कव प्राप्त करूँगा ?। साक्षीभूत ध्यानरूप अग्निमें रागादि हव्य वस्तुका वारंवार हवन होने पर, शरीरका नाश होने पर भी साथ रहने वाली केवल ज्ञानरूप लक्ष्मी स्त्रीपनेको मुझे कव प्राप्त होगी ?। तथा कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य महाराज भी पूर्वोक्त दशाकी अभिलाषा ही करते हैं—वने पद्मासनासीनं, क्रोडस्थितमृगार्भकम्। कदा घ्रास्यन्ति वक्त्रे मां जरन्तो मृगयूथपाः ॥ १ ॥ शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे, स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि। मोक्षे भवे भविष्यामि निर्विशेष मतिः कदा ? ॥ २ ॥ अर्थ—पद्मासन लगाकर जंगलमें वैठे हुए तथा जिसकी गोदमें मृगका वच्चा वैठा है, ऐसी दशामें मुझे वूढे

मृग आकर कब सूँगेंगे, अर्थात् ऐसी प्रौढ समाधि दशाको मैं कब प्राप्त करूँगा ? कि जिस दशामें वनचर पशु भी प्रशान्त होकर मेरे मुँह या शरीरको सूँगें । शत्रु, मित्र, तृण, स्त्रीसमूह, सुवर्ण, पाषाण, मणि रत्न, मिट्टी, मोक्ष और संसार, इन सबके अन्दर मैं समान दृष्टिवाला कब होऊँगा? अर्थात् ऐसी अध्यात्म दशाको मैं किस दिन प्राप्त करूँगा कि जिस दशामें संसार और मोक्ष, इन दोनोंमें मुझे स्पृहा न रहे और इन्हें समान दृष्टिसे देखूँ याने इनमें समभाव धारण करूँ ? इस प्रकार अनेक महान् विद्वान तत्ववेत्ता पुरुषोंने परमात्म तत्वके मनोरथ किये हैं और मनोरथ अप्राप्त वस्तुका ही किया जाता है, किन्तु प्राप्त किये हुए पदार्थका कभी मनोरथ नहीं किया जाता । जो मनुष्य सदा काल मिष्टान्नका भोजन करता है, वह कभी मिष्टान्नकी वांछा नहीं करता या जो मनुष्य साम्राज्य लक्ष्मीको भोगता हो वह कभी यह प्रार्थना नहीं करता कि मुझे सम्राट् पद प्राप्त हो या कब प्राप्त होगा । अतः परम संवेगको प्राप्त करके प्रमत्त गुणस्थानमें रहनेवाले विवेकी पुरुषोंको प्रमत्त गुणस्थानके वशसे शुद्ध परमात्म-तत्वसंवित्तिके मनोरथ करने चाहियें, किन्तु षडावश्यकादि क्रिया व्यवहारको त्यागना न चाहिये । जो कि शास्त्रमें फरमाया है—योगिनः समतामेतां, प्राप्य कल्पलतामिव । सदाचारमयीमस्यां, वृत्ति मातन्वतां बहिः ॥ १ ॥ ये तु योगग्रहग्रस्ताः, सदाचारपरांमुखाः । एवं तेषां न योगोपि, न लोकोपि जडात्मनाम् ॥ २ ॥ अर्थ—योगी पुरुषको चाहिये कि कल्पलताके समान समताको प्राप्त करके उस सदाचारवाली समतामें बाह्य प्रवृत्ति भी रक्खे । जो मनुष्य केवल योग-ध्यानके ही कदाग्रहसे ग्रस्त होकर क्रियानुष्ठानका परित्याग कर बैठते हैं, वे न तो योगको ही प्राप्त कर सकते और ना ही वे

लोक व्यवहारजन्य पुण्यको प्राप्त कर सकते। अर्थात् वे लोग व्यवहार और निश्चय दोनोंसे भ्रष्ट होते हैं।

अब शास्त्रकार जो कुछ करणीय है सो फरमाते हैं-

तस्मादावश्यकैः कुर्यात्, प्राप्तदोष-निकृन्तनम्।
यावन्नाप्नोति सद्ध्यान-मप्रमत्त गुणाश्रितम् ॥३१॥

श्लोकार्थ-जब तक अप्रमत्त गुणाश्रित सद्धर्म ध्यान प्राप्त न होवे तब तक प्राप्त किये हुए दोषोंको आवश्यकादिसे नष्ट करे।

व्याख्या-पूर्वोक्त हेतुसे प्रमत्त गुणस्थानमें रहने वाले मुनिराजको अप्रमत्त गुणस्थानमें प्राप्त होने वाला सद्धर्म ध्यान जब तक प्राप्त न हो तब तक दिन संबन्धि अतिचारजन्य पाप कर्मोंको उसे आवश्यकादि क्रियानुष्ठानसे ही नष्ट करना चाहिये। प्रमत्त गुणस्थानमें रहा हुआ प्राणी प्रत्याख्यानीय चार कषाणोंका बन्ध नहीं करता, इस लिए त्रेसठ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध करता है और तिर्यंच गति, तिर्यंच आयु, नीच गोत्र, उद्योत नामकर्म, तथा प्रत्याख्यानीय चार कषाय, इन आठ कर्म प्रकृतियोंके उदयका अभाव होनेसे तथा आहारक शरीर और आहारक अंगोपांगका उदय होनेसे ८१ एक्यासी कर्म प्रकृतियोंको वेदता है तथा एकसौ अड़तीस कर्म प्रकृतियोंको सत्तामें रखता है।

॥ छठा गुणस्थान समाप्त ॥

अब अप्रमत्त नामक सातवाँ गुणस्थान लिखते हैं-

चतुर्थानां कषायाणां, जाते मन्दोदये सति।
भवेत्प्रमाद-हीनत्वादप्रमत्तो महाव्रती ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ-चौथे कषायोंका मन्दोदय होने पर प्रमादकी

हीनतासे महाव्रतोंको धारण करनेवाला मुनि अप्रमत्त होता है।

व्याख्या—महाव्रतोंको धारण करने वाला मुनिराज अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थानमें रहा हुआ संज्वलन नामक चौथे कषायों तथा नव नोकषायोंका उदय मन्द होने पर याने अतीव्र विपाकोदय होने पर और पाँच प्रकारके प्रमादका अभाव होनेसे अप्रमत्त दशाको प्राप्त होता है। ज्यों ज्यों पूर्वोक्त कषायोंकी मन्दता होती जाती है त्यों त्यों सातवें गुणस्थानमें रहने वाले योगीकी अधिकाधिक अप्रमत्त दशा होती है। इसके लिये शास्त्रमें भी फरमाया है—यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि। तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ॥ १ ॥ अर्थ—सुलभतासे प्राप्त हुआ पाँचों इन्द्रियों संबन्धि विषय सुख ज्यों ज्यों मनुष्यको रुचिकर नहीं होता त्यों त्यों उसे सद्ज्ञानमें उत्तम तत्त्वकी प्राप्ति होती जाती है और ज्यों ज्यों उत्तम तत्वकी प्राप्ति होती जाती है त्यों त्यों सुलभ विषय सुख भी उसे रुचिकर नहीं होता।

अप्रमत्त गुणस्थानमें रहा हुआ मोहनीय कर्मको उपशम और क्षय करनेमें निपुण होकर योगी पुरुष जिस तरहसे सद् ध्यानका प्रारंभ करता है वह बताते हैं—

नष्टाशेषप्रमादात्मा, व्रतशीलगुणान्वितः।
ज्ञान-ध्यान-धनी मौनी, शमन-क्षपणोन्मुखः ॥३३॥
सप्तकोत्तरमोहस्य, प्रशमाय क्षयाय वा।
सद्ध्यान साधना रम्भं कुरुते मुनिपुङ्गवः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—जिसका संपूर्ण प्रमाद नष्ट हो गया है, व्रत और शुद्धाचारसे संयुत तथा ज्ञान ध्यान धनवाला और मौन व्रतको

धारण करने वाला महा मुनीश्वर उपशम तथा क्षपण करनेके सन्मुख होकर मोहनीय कर्मकी पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंको उपशान्त करनेके लिए अथवा क्षय करनेके लिए सद्ध्यानका प्रारंभ करता है।

व्याख्या—पाँच प्रकारके प्रमादसे मुक्त—सर्वथा अप्रमत्त दशामें रहने वाला, महाव्रतों तथा अष्टादश सहस्र शीलांगके लक्षणोंसे युक्त, सर्वज्ञ देव प्रणीत छः द्रव्योंका गुण पर्यायात्मक यथातथ्य ज्ञान, चारों ओरसे मनो व्यापारका निरोध करके मनकी एकाग्रता—आत्म स्वरूपमें तल्लीनता और मौन व्रतको धारण करने वाला मुनीश्वर कर्म प्रकृतियोंको उपशम तथा क्षय करनेमें उद्यत होकर सात कर्म प्रकृतियोंके अतिरिक्त मोहनीय कर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंको उपशान्त करनेके लिए या क्षय करनेके लिए ही निरालंब सद्ध्यानमें प्रवेश करता है। निरालंबन सद्ध्यानके प्रवेशमें योगीश्वर तीन प्रकारके होते हैं, एक तो प्रारंभक, दूसरे तन्निष्ठ और तीसरे निष्पन्नयोग। जो मनुष्य नैसर्गिक या सांसर्गिक विरति (व्रत नियम वाली आत्मपरिणति) को प्राप्त करके बंदरके समान चपल मनको निरुद्ध करनेके लिए किसी पर्वतकी गुफा वगैरह एकान्त स्थानमें बैठकर तथा निरन्तर नासिकाके अग्रभाग पर दृष्टि लगाकर निष्प्रकंप तथा वीर आसनसे विधि पूर्वक समाधिका प्रारंभ करता है, उसे प्रारंभक योगी कहते हैं। जो मनुष्य प्राण वायु, आसन, इन्द्रिय, मन, क्षुधा, पिपासा, तथा निद्रा, इन सबोंको अपने वशमें करके सर्व प्राणी मात्र पर प्रमोद भावना, कारुण्य भावना तथा मैत्री भावनाको धारण करके अन्तर्जल्पपने ध्यानाधिष्ठित चेष्टासे तत्व स्वरूपका चिन्तवन करते हैं उन्हें तन्निष्ठयोगी कहते हैं। जिन योगियोंके हृद-

यमें बाह्य तथा आन्तरंगिक जल्प कल्लोल उपशमताको प्राप्त हो गया है याने जिनके हृदयमें किसी भी प्रकारके संकल्प विकल्प पैदा ही नहीं होते और स्वच्छ विद्यारूप विकसित कमलिनीसे सुशोभित मन रूप सरोवरके अन्दर निर्लेप तया आत्मारूपी हंस सदा काल स्वात्मानुभवरूप अमृतका पान करता है, उन्हें निष्पन्न योगी कहते हैं।

इस गुणस्थानमें योगी पुरुष पूर्ण तया ध्यानाधिकारी होता है अतएव अब शास्त्रकार उसी बातको प्रतिपादन करते हैं:—

धर्मध्यानं भवत्यत्र, मुख्यवृत्त्या जिनोदितम्।
रूपातीत तया शुक्लमपि स्यादंशमात्रतः ॥३५॥

श्लोकार्थ—इस अप्रमत्त गुणस्थानमें मुख्य वृत्तिसे सर्वज्ञोपज्ञ धर्म ध्यान होता है तथा रूपातीत तया अंश मात्र शुक्ल ध्यानकी भी संभावना होती है।

व्याख्या—सप्तम गुणस्थानमें मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थादि भावनाओं सहित मुख्य वृत्तिसे जिनेश्वर देव प्रणीत अनेक प्रकारका धर्म ध्यान होता है, वह धर्म ध्यान आज्ञाविचयादि या पिण्डस्थादि भेदोंसे चार प्रकारका होता है, आज्ञाविचयादि धर्म ध्यानके चार पायोंका स्वरूप प्रथम लिख चुके हैं, अतः अब संक्षेपसे पिण्डस्थादि धर्म ध्यानके चार भेद बताते हैं। पिण्डस्थ—शरीररूप पिण्डमें रही हुई अलख, अगोचर, अनन्त ज्ञानमय अरूपी आत्मा शरीरसे भिन्न है, अनादि कालसे आत्माके साथ कर्मका संयोग होनेसे आत्मा शरीरको धारण करती है। शरीर मठमें रही हुई आत्मा जगतके पौद्गलिक पदार्थोंको जिनके साथ इसका वास्तविक कुछ भी संबन्ध नहीं अपने मान बैठी है,

पौद्गलिक पदार्थोंके रूप, रस, गन्ध, स्पर्शमें सदा काल परिवर्तन होता रहता है, अतएव उनका संयोग वियोग होनेके कारण आत्मा सुख दुख मानती है। अनादि काल संचित कर्मकी प्रबलतासे आत्मा अपने स्वभावको भूल कर विभाव दशामें लीन हो गई है, इसी कारण कर्मोंकी वृद्धि करती हुई संसार चक्रमें परिभ्रमण करती है। आत्मा जो अनेक प्रकारके रूपोंको धारण करती देख पड़ती है, यह सब आत्म पर्यायोंमें परिवर्तन कराने वाला कर्म ही है। क्योंकि कर्मके संसर्ग विना जीवके स्थूल पर्यायोंमें कभी फेरफार हो ही नहीं सकता। आत्माका स्वभाव विभावदशा भजनेका नहीं। आत्मा सिद्ध परमात्माके समान सत्तामान है। आत्माका स्वभाव भवभ्रमण करनेका नहीं, यदि ऐसा न होता तो सिद्धात्माको भी पुनः संसारमें अवतार धारण करनेका समय प्राप्त होता, परन्तु मुक्त दशामें कर्माभाव होनेसे सिद्धात्माको पुनः संसारमें अवतार धारण करनेका कोई कारण नहीं। इसी कारण मुक्तावस्थामें सिद्धात्मा अपने असली स्वरूपमें रमणता करती है। आत्माके साथ जब कर्मका अत्यन्ताभाव हो जाता है, तब फिर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करके कभी विभाव दशामें जाती ही नहीं। अनादि कालसे समस्त संसारी जीवोंको ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्म ही निज स्वरूपसे विमुख करके परस्वरूपमें लगा रहे हैं। जब आत्माकी संसार पर्यटन की स्थिति परिपक्क हो जाती है तब जीवको सम्यक्त्वादि सामग्री प्राप्त होती है। इस सामग्रीके द्वारा उत्तरोत्तर आत्मीय गुणोंको प्राप्त करता हुआ समग्र कर्मोंका नाश करके जीव अपनी अनन्त ज्ञानमयी शक्तिको प्रगट करता है और उससे भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान, इन तीनों कालमें होने वाले पदार्थोंको अनन्त गुण पर्यायों सहित एक समयमें ही जानता और देखता

है। फिर उससे कोई भी पदार्थ अगोचर नहीं रहता, पुद्गल निर्जीव-जड़ रूप तथा रूपी है और आत्मा चैतन्य रूप तथा अरूपी है। जीवात्मा निश्चय नयकी अपेक्षासे आदि, मध्य, अवसान रहित है तथा स्व परका प्रकाशक है, उपाधिसे रहित ज्ञान स्वरूप और निश्चय प्राणोंसे जीने वाला है तथापि वह अशुद्ध निश्चय नयसे अनादि काल संचित कर्मके वश होकर द्रव्य प्राण तथा भाव प्राणोंसे जीने वाला होनेसे जीव कहा जाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे परिपूर्ण निर्मल-स्वच्छ दो उपयोग हैं तन्मय जीव है तथापि अशुद्ध नयसे जीवको क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन होता है। व्यवहार नयसे मूर्त्त कर्माधीन होनेके कारण जीव वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तथा रूपसे मूर्तिमान देख पड़ता है तथापि निश्चय नयसे अमूर्त्त, इन्द्रियोंसे अगोचर और शुद्ध स्वभावको धारण करने वाला है। निश्चय नयसे आत्मा क्रिया रहित, सर्व प्रकारकी उपाधियोंसे रहित तथा ज्ञान स्वरूप है, तथापि मन, वचन, कायिक व्यापारके करने वाली और कर्मके ही वशसे शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता है। आत्मा निश्चय नयसे स्वभाव तया लोकाकाश प्रमाण असंख्य आत्म प्रदेशोंको धारण करने वाली है, क्योंकि जव केवल ज्ञान दशामें आयु कर्मके दलिक कम रहते हैं और वेदनीय कर्मके अधिक होते हैं तव वह केवल ज्ञानी महात्मा वेदनीय कर्मके अधिक दलियोंको खतम करनेके लिए अर्थात् वेदनीय कर्मको आयु कर्मके समान करनेके लिए अपने असंख्य आत्म प्रदेशोंको अपनी आत्मीय शक्तिसे तमाम लोकाकाशमें फैला देता है और केवल आठ समयके अन्दर चतुर्दश राजलोकके तमाम परमाणुओंका संस्पर्श करके फिर आत्म प्रदेशोंको शरीरस्थ कर लेता है। इस वातका विशेष खुलासा हमें आगे क्षपक श्रेणीमें लिखना

है अतः यहाँ पर विशेष नहीं लिखा। एवं असंख्य प्रदेशीय होने पर भी आत्मा शरीर नाम कर्मोदयसे शरीर प्रमाण न्यूनाधिकताको धारण करती है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा राग द्वेष विकल्पोंसे रहित है तथापि अशुद्ध नयसे शुभाशुभ कर्मोंको भोगती है। शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा आत्मा अनन्त ज्ञान दर्शनादि गुणोंको धारण करने वाली होनेके कारण सिद्ध स्वरूप ही है, परन्तु व्यवहार नयसे कर्मोपाधिकी सत्ताके कारण निजात्म स्वरूपको न प्राप्त करनेसे जीवात्मा कहाती है। आत्माका मूल स्वभाव उर्ध्व गति करनेका है, तथापि वह कर्मोंके वशीभूत होकर ऊँची, नीची तथा तिरछी गति करती है। बस इसी प्रकार पिण्डस्थ ध्यानमें सप्तभंगी द्वारा आत्म तत्वका चिन्तवन करना चाहिये। संसारमें प्रत्येक पदार्थ स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अस्ति रूप है। आत्माके अन्दर ज्ञान, दर्शन, चारित्र वगैरह गुण सदा काल वर्तमान तया स्थित हैं, इस लिए स्याद् अस्ति कहा जाता है। देश, काल, क्षेत्र, भावादि अपेक्षित आत्मा दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षा नास्ति रूप है। जैसे आत्मामें अचेतनत्व होनेके कारण स्याद् नास्ति कहा जाता है। संस्कृत भाषामें स्यात् शब्द अव्यय है और अनेकान्त वाचक है, इस लिए इसका कथंचित् अर्थ लिया जाता है। संसारके समस्त पदार्थ अपने अपने द्रव्यकी अपेक्षासे अस्ति रूप और पर द्रव्यकी अपेक्षासे नास्ति रूप हैं। जिस तरह आत्मामें चैतन्यका अस्तित्व है और जड़ताका नास्तित्व है। बस इसी लिए आत्माके अन्दर अस्ति नास्ति एक ही समय कहा जा सकता है। पदार्थका मूल स्वरूप एकान्त तया नहीं कथन किया जाता, क्योंकि एक पदार्थमें अस्ति–नास्ति दोनों ही धर्म रहे हुए हैं, यदि केवल

अस्तित्वका ही प्रतिपादन किया जाय तो नास्तित्वका और नास्तित्वका ही प्रतिपादन किया जाय तो अस्तित्वका अभाव रूप दोष उपस्थित होता है। सर्वज्ञ महात्मा एक पदार्थको अनन्त धर्मयुक्त एक ही समयमें देख लेते हैं, परन्तु तद्गत सर्व धर्मोंका स्वरूप वे वचन द्वारा कथन नहीं कर सकते, क्योंकि पदार्थकी व्याख्या क्रमानुसार की जाती है। ज्ञानी महात्मा एक समय अनेक पदार्थोंको अपनी ज्ञान शक्तिसे जान लेते हैं और देख लेते हैं, किन्तु जब वे उन अनन्त धर्मात्मक पदार्थोंकी व्याख्या करते हैं तब क्रमसे एक एक पदार्थकी ही व्याख्या कर सकते हैं। इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानमें स्याद्वाद (अनेकान्त) मतसे आत्माका स्वरूप समझना चाहिये।

अब दूसरे पदस्थ ध्यानका स्वरूप लिखते हैं। पदस्थ ध्यानमें पदका ध्यान किया जाता है। वह मत मतान्तरोंकी अपेक्षासे अनेक प्रकारका होता है, अर्थात् भिन्न भिन्न मन्तव्य होनेसे भिन्न भिन्न इष्ट देवोंके नामका स्मरण—ध्यान किया जाता है।

जिस प्रकार ॐ नमो वासुदेवाय, ॐ नमः शिवाय, ॐ नमः सर्वज्ञाय, ॐ नमो वीराय, इत्यादि अनेक प्रकारका हो सकता है। जैन दर्शनमें सर्वोत्तम अनादि सिद्ध पंच परमेष्ठी मंत्रको इष्ट माना है। इस इष्ट पदका ध्यान—स्मरण अनेक प्रकारसे किया जाता है, जैसे **नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः, नमोऽरिहन्तसिद्धसाहु, नमः असिआउसा, ॐ नमोनमः,** एवं अनेक तरहसे परमेष्ठी पदका स्मरण किया जाता है। एक ॐकार शब्दमें ही पंच परमेष्ठीका समावेश हो जाता है, इसी कारण कितने एक लोग ॐकार पदका ध्यान किया करते हैं। ॐकार पदमें पंच परमेष्ठी पदका समावेश इस प्रकार

होता है—अरिहन्त पदका अकार तथा अशरीरी (सिद्ध) पदका अकार मिलने पर "सवर्णे दीर्घः सह," व्याकरणके इस सूत्रसे आकार हो जाता है। आचार्य पदका आदिका आकार मिलानेसे "पूर्वदीर्घस्वरं दृष्ट्वा परलोपो विधीयते," व्याकरणके इस पारिभाषिक सूत्रसे आकारका लोप किया जाने पर आकार ही शेष रह जाता है। उपाध्याय पदका उकार मिलानेसे "ऊ ओ" इस सूत्रसे आकार तथा उकार मिलने पर सन्धिसे ओकार हो जाता है। मुनि पदका स्वर हीन मकार ग्रहण करने पर "मोऽनुस्वारः" इस सूत्रसे मकारका अनुस्वार होनेसे ॐ कार पद सिद्ध होता है। पूर्वोक्त रीतिसे ॐ कार पदमें पंच परमेष्ठी पदका समावेश होता है अतः ॐ कार पदका ध्यान करनेसे पाँचों ही पदका ध्यान हो सकता है। इसी तरह दूसरे पदोंमें भी इष्ट देवोंका समावेश समझ लेना, जैसे चतुर्विंशति जिनस्तव याने चौवीस तीर्थंकरोंकी स्तुति, जिसे लोगस कहते हैं। इस प्रकार इष्ट देव वाचकात्मक पदोंका ध्यान, जाप तथा स्मरण करनेसे आत्मामें निर्मलता—विशुद्धि प्राप्त होती है।

अब तीसरे रूपस्थ ध्यानका स्वरूप लिखते हैं।

साकार परमात्माका चिन्तवन करना, उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं। द्रव्य, गुण, पर्यायों सहित अर्हत्परमात्माके स्वरूपको जो मनुष्य जान सकता है वही उस परमात्म पदका ध्यान कर सकता है। यों तो अनन्त गुणी परमात्माके अनन्त ही नाम हो सकते हैं तथापि विशेष प्रसिद्धिगत उसके वाचक तीन शब्द हैं—अर्हत्, अरिहन्त और अरुहन्त। चौंतीस अतिशयोंसे युक्त तथा नरेन्द्र देवेंद्रोंसे पूजित जो हो उसे अर्हत् कहते हैं, क्योंकि अर्ह, धातु पूजा अर्थमें आता है और उससे ही अर्हत् शब्द

सिद्ध होता है। कर्म रूप अरि–शत्रुका नाश करने वाला अरिहन्त कहाता है। जन्म मृत्यु रोग शोक दुःखोंको नष्ट करने वाला अरुहन्त कहा जाता है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, इस अनन्त चतुष्टयीको धारण करने वाले साकार परमात्माका चिन्तवन रूपस्थ ध्यानमें किया जाता है।

अब चौथे रूपातीत ध्यानका स्वरूप लिखते हैं।

रूपातीत–रूपसे-आकारसे अतीत-रहित जो सिद्ध परमात्मा हैं उनका चिन्तवन करना, उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मोंसे सर्वथा रहित होकर जिस आत्माने मोक्ष पदको प्राप्त किया है, उसे सिद्ध परमात्मा कहते हैं। कर्मके वियोगसे जब यह जीवात्मा परम पद मोक्षको प्राप्त होता है तब शरीरके तीन विभागोंमेंसे एक विभाग शरीरकी पोलानको वर्जके दो विभाग प्रमाण जगहमें उसके असंख्य आत्म प्रदेश मोक्ष स्थानमें जा उपस्थित होते हैं। इसे ही सिद्ध अवगाहना कहते हैं। सिद्ध परमात्मा सर्व उपाधिसे रहित होनेके कारण केवल ज्ञानमय आत्म स्वरूपमें स्थित रहते हैं। अरूपी होनेके कारण वहाँ पर वे जगह नहीं रोकते। एक एककी अवगाहनामें अनन्त सिद्धोंकी अवगाहना समाविष्ट रहती हैं। सिद्ध परमात्माके स्वरूपका वर्णन सिवाय केवल ज्ञानी महात्माके अन्य कोई नहीं कर सकता। पूर्वोक्त अरूपी सिद्ध परमात्माके स्वरूपका चिन्तवन करना, इसे ही रूपातीत ध्यान कहते हैं। यह रूपातीत ध्यान शुक्ल ध्यानका अंश है, इसीसे सातवें गुण स्थानमें शुक्ल ध्यानकी अंशता संभव होती है। सातवें गुणस्थानमें षडावश्यक बिना ही आत्म शुद्धि होती है, सो ही शास्त्रकार बताते हैं–

इत्येतस्मिन् गुणस्थाने, नो सन्त्यावश्यकानि षट्।

संतत ध्यान सद्योगाच्छुद्धिः स्वाभाविकी यतः ॥२६॥

श्लोकार्थ–इस सप्तम गुणस्थानमें षड़ावश्यक नहीं हैं, क्योंकि निरन्तर ध्यानके सद्योगसे स्वाभाविक ही शुद्धि होती है।

व्याख्या–पूर्वोक्त स्वरूप वाले अप्रमत्त नामक सातवें गुण स्थानमें सामायिकादि छह आवश्यक नहीं हैं, याने सामायिकादि छह आवश्यक संबन्धि व्यवहार क्रियाकी इस गुणस्थानमें निवृत्ति होती है, क्योंकि छह आवश्यकको आत्मगुणत्व कहा है। आगममें फरमाया है–आया सामाइए, आयासामाइ अस्सअट्ठे ॥ अर्थात् आत्मा सामायिक है, आत्मा ही सामायिकका अर्थ है, अतः निरन्तर ध्यानका ही सद्भाव होनेके कारण स्वाभाविक ही आत्म शुद्धि होती है। उस योगीका अन्तःकरण संकल्प विकल्पोंकी परंपरासे रहित होता है, उसके चारित्र गुणमें किसी प्रकारका अतिचार लगनेका संभव ही नहीं होता, इसीसे सातवें गुणस्थानमें रहा हुआ वह योगी भावतीर्थकी अवगाहना करनेसे परम विशुद्धिको प्राप्त होता है। शास्त्रमें फरमाया है–दाहोपशमः तृष्णाछेदनं मलप्रवाहणं चैव। त्रिभिरर्थैर्नियुक्तं तस्मात्तद्भावतस्तीर्थम् ॥ १ ॥ क्रोधे तु निगृहीते दाहस्योपशमनं भवति तीर्थम्। लोभे तु निगृहीते तृष्णाया छेदनं जानी हि ॥ २ ॥ अष्टविधं कर्मरजः बहुकैरपिभवैः संचितं यस्मात्। तपः संयमेन क्षालयति, तस्मात्तद्भावतस्तीर्थम् ॥ ३ ॥ तथा शरीरके अन्दर प्राण वायुके प्रचारको रोकने पर, इन्द्रियोंकी चेष्टायें गुप्तताको प्राप्त होने पर, नेत्रोंकी चंचलता निरस्त होने पर, अन्तःकरणके विकल्पोंका नाश होने पर, मोहरूप अन्धकारका भेदन होने पर, अतएव आत्म स्वरूप चिन्तवनरूप तेजके प्राप्त होने पर ध्यानावलंबी योगी परमानन्दरूप सिन्धुमें प्रवेश करता है। अप्रमत्त गुण-

स्थानमें रहा हुआ योगी शोक, अरति, अस्थिर नाम, अशुभ नाम, अपयश नाम, तथा असाता वेदनीय, इन छः प्रकृतियोंका अभाव होनेसे तथा आहारक शरीर और आहारक अंगोपांगका वन्ध होनेसे ५९ उणसठ कर्म प्रकृतियोंको बाँधता है। यदि देव संवन्धि आयु वहाँ पर न बाँधे तो अट्ठावन ही कर्म प्रकृतियोंका बन्ध करता है। स्त्यानर्द्धि त्रिक, आहारक द्वय, इन पाँच प्रकृतियोंको वर्जकर ७६ छयत्तर कर्म प्रकृतियोंको वेदता है और १३८ एकसौ अड़तीस कर्मप्रकृतियोंको सत्तामें रखता है। पूर्वोक्त रीतिसे योगी पुरुष सातवें गुणस्थानको समाप्त करके आठवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है॥

॥ सातवाँ गुणस्थान समाप्त ॥

अब अपूर्वकरण, अनिवृत्तिवादर, सूक्ष्मसंपराय, उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह, इन पूर्वोक्त नाम वाले यथाक्रमसे आठवें, नववें, दशवें, ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानोंका शास्त्रकार प्रथम सामान्य तया नामार्थ फरमाते हैं–

अपूर्वात्मगुणाप्तित्वादपूर्वकरणं मतम्।
भावाना-मनिवृत्तित्वादनिवृत्ति-गुणास्पदम्॥३७॥
अस्तित्वात्सूक्ष्मलोभस्य, भवेत्सूक्ष्मकषायकम्।
शमनाच्छान्तमोहं स्यात्, क्षपणात्क्षीणमोहकम्॥३८॥
॥ युग्मं ॥

श्लोकार्थ–अपूर्व आत्म गुण प्राप्तिसे अपूर्वकरण नामा गुण स्थान माना है। भावोंकी अनिवृत्ति होनेसे अनिवृत्तिकरण गुण

स्थान कहा जाता है। सूक्ष्म लोभका अस्तित्व होनेसे सूक्ष्म संप-राय नामा गुण स्थान कहाता है। मोहको उपशान्त करनेसे उपशान्त मोह गुण स्थान कहा जाता है और मोहको नष्ट कर देनेसे क्षीण मोह नामा गुण स्थान कहाता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त सप्तम गुण स्थानीय महात्मा संज्वलनके क्रोध, मान, माया, लोभ तथा नव नोकषायोंकी अति मन्दता होने पर अपूर्व परमानन्दमय आत्म परिणामरूप करणको जब प्राप्त करता है तब उसे अपूर्वकरण नामा अष्टम गुणस्थानकी प्राप्ति होती है और इस गुण स्थानमें योगीको अपूर्व आत्मीय गुणोंकी प्राप्ति होती है। तथा देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए जो भोग हैं उनकी आकांक्षादि संकल्प विकल्पोंसे वह रहित होता है। निश्चल तया परमात्मैक तत्वरूप एकाग्र ध्यान परिणतिरूप सद्भावोंकी अनिवृत्ति होनेसे अनिवृत्ति नामक नववाँ गुणस्थान कहाता है। इस गुण स्थानको अनिवृत्ति बादर भी कहते हैं, उसका यह कारण है कि इस गुण स्थानमें रहने वाला महात्मा अप्रत्याख्यानादि बारह बादर कषायों तथा नव नोकषायोंको उपशम श्रेणी वाला उपशान्त करनेके लिये तथा क्षेपक श्रेणी वाला क्षय करनेके लिए तैयार होता है, बस इसीसे इस नववें गुणस्थानको अनिवृत्ति बादर कहते हैं।

सूक्ष्म परमात्मतत्वकी भावनासे, एक लोभका मात्र अंश वर्ज कर ग्यारह कषाय तथा नव नोकषाय, मोहनीय कर्मकी इन बीस प्रकृतियोंके शान्त या क्षय होनेपर केवल एक खंडी भूत-लोभांशकी विद्यमानता होनेसे सूक्ष्म कषाय या सूक्ष्म संपराय नामा दशवाँ गुण स्थान कहाता है। उपशम श्रेणी वाले योगीको

ही निजात्म सहज स्वभावके ज्ञान बलसे समस्त मोहके उपशान्त होनेसे उपशान्त मोह नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान होता है। अर्थात् उपशम श्रेणा वाला प्राणी जिस स्थानमें समग्र मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंको क्षय न करके सत्तामें ही दबा लेता है उस स्थानको उपशान्त मोह ग्यारहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

तथा क्षपक श्रेणी वाले योगीको ही याने जो महात्मा क्षपक श्रेणी द्वारा दशवें गुणस्थानसे ग्यारहवें गुणस्थानमें न जा कर निष्कषाय शुद्धात्म-भावना बलसे संपूर्ण मोहनीय कर्मको नष्ट करता है, उसे क्षीणमोह नामक बारहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। अर्थात् जिस स्थानमें जा कर योगी सकल मोहनीय कर्मको नष्ट कर डालता है उसे क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त गुणस्थानोंका नामार्थ समझना।

अपूर्वकरण नामा आठवें गुणस्थानसे योगी उपशम या क्षपक गुण श्रेणीका प्रारंभ करता है, अतः अब श्रेणी संबन्धि स्वरूप लिखते हैं-

तत्रापूर्व गुणस्थानाद्यांशा देवाधिरोहति।
शमको हि शमश्रेणिं, क्षपकः क्षपकावलीम् ॥३९॥

श्लोकार्थ-अपूर्व गुणस्थानके आद्यंशसे ही शमक योगी शम श्रेणी और क्षपक योगी क्षपक श्रेणीको आरोहण करता है।

व्याख्या-इस अपूर्वकरण नामा आठवें गुणस्थानसे ही योगी पुरुष उपशम या क्षपकश्रेणी पर आरूढ होता है। सम्यक्त्वकी अपेक्षासे तो प्राणी चिरकाल स्थिति वाली श्रेणियाँ चतुर्थ गुणस्थानसे ही प्रारंभ कर देता है, किन्तु स्वल्पकाल स्थिति वाली और ऊपरके उच्चात्म गुणस्थानोंको शीघ्रतासे प्राप्त कराने

वाली उपशम या क्षपकश्रेणीको अपूर्वकरण नामा आठवें गुण-स्थानके आद्यंश ही से प्रारंभ करता है, याने आठवें गुणस्थानमें प्रवेश करते ही उपशमक उपशमश्रेणी और क्षपक क्षपकश्रेणीमें आरूढ़ हो जाता है।

अब प्रथम उपशमश्रेणी आरोहण करने वालेकी योग्यता बताते हैं--

पूर्वज्ञः शुद्धिमान् युक्तो, ह्याद्यैः संहननैस्त्रिभिः।
संध्यायन्नाद्यशुक्लांशं, स्वां श्रेणीं शमकः श्रयेत् ॥४०॥

श्लोकार्थ-पूर्वगत ज्ञानका ज्ञाता, शुद्धिमान् तथा आदिके तीन संहननोंसे युक्त शमक योगी शुक्लध्यानका आद्यंश ध्याता हुआ स्व श्रेणीको आश्रय करता है।

व्याख्या-उपशमक योगी शुक्ल ध्यानके प्रथम पायेको जिसका स्वरूप आगे चलकर कथन किया जायगा, ध्यानका विषय करता हुआ अपनी श्रेणीको प्रारंभ करता है। परन्तु वह योगी कमसे कम एक [१]पूर्वगत ज्ञानको जानने वाला, निरति चार चारित्रको पालने वाला और आदिके वज्र ऋषभ नाराच, ऋषभ नाराच, नाराच, इन तीन संहननोंसे युक्त होना चाहिये। पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट ही मुनि उपशमश्रेणीको अंगीकार करता है।

श्रेणी संबन्धि विषयमें शमक या उपशमक और क्षपक, ये दो शब्द प्राय विशेष तया आयेंगे सो इस विषयमें समझना कि जो योगी उदय भावमें आई हुई कर्म प्रकृतियोंको नष्ट न करके उन्हें सत्तामें दबाता हुआ ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ता है उसे

१, जिस महाशयको पूर्वोके विषयमें विशेष जानना हो वह परिशिष्ट पर्वका दूसरा भाग देख लेवे।

शमक या उपशमक कहते हैं और जो योगी प्रथमसे ही उदय भावमें आई हुई कर्म प्रकृतियोंको क्रमसे नष्ट करता हुआ ऊपरके गुणस्थानोंमें प्रवेश करता है, उसे क्षपक कहते हैं। इसी तरह इतना और भी समझ लेना कि उदय भावमें आई हुई कर्म प्रकृतियोंको क्रमसे क्षय करने वाला क्षपक योगी क्षपकश्रेणीको प्राप्त करता है और उदयमें आई हुई कर्म प्रकृतियोंको सत्तामें दबाने वाला शमक या उपशमक योगी उपशम श्रेणीको प्राप्त करता है।

उपशम श्रेणीमें आरूढ हुए योगीकी गति बताते हैं—

श्रेण्यारूढः कृते काले, ऽहमिन्द्रेष्वेव गच्छति।
पुष्टायु स्तूपशान्तान्तं नयेच्चारित्रमोहनम्॥४१॥

श्लोकार्थ—यदि श्रेणीमें आरूढ हुआ हुआ योगी काल करे तो अहमिन्द्र देवलोकोंमें जाता है और यदि आयु लंबा हो तो चारित्र मोहनीयको उपशान्तमोह ग्यारहवें गुणस्थानके अन्त तक पहुँचाता है।

व्याख्या—जो अल्पायु वाला मुनि उपशमश्रेणीको आरूढ होता है, वह मुनि आयु पूर्ण होनेसे यदि श्रेणीमें रहा हुआ काल करे तो सर्वार्थसिद्धादि विमानोंमें देवपने उत्पन्न होता है, परन्तु प्रथम संहनन वाला होवे तो ही सर्वार्थसिद्ध वगैरह विमानोंमें जा सकता है अन्यथा नहीं। शास्त्रमें फरमाया है—सेवार्त्तेन तु गम्यते चतुरो, यावत्कल्पान् कीलिकादिषु। चतुर्षु द्वि द्वि कल्पवृद्धिः प्रथमेन यावत्सिद्धिरपि॥ १॥ अर्थ—अन्तिम संहनन वाला प्राणी चार देवलोक तक जा सकता है, कीलिकादि संहनन वाले मनुष्योंके लिए ऊपरके दो दो देव लोकोंकी क्रमसे वृद्धि समझ लेना और

प्रथम संहननवाला मनुष्य सर्वार्थसिद्ध विमान तथा मोक्षमें जा सकता है। जो सप्त लव अधिक आयु वाला मुनि मोक्ष गमनके योग्य होता है, वही सर्वार्थसिद्ध आदि विमानोंमें जा सकता है। कहा भी है—सप्तलवा यदि आयुः प्राभविष्यत् तदाऽसेत्स्यन्नैव। तावन्मात्रं नाभूत् ततो लवसप्तमा जाताः ॥ १ ॥ सर्वार्थसिद्ध नाम्नि (विमाने) उत्कृष्ट स्थितिषु विजयादिषु। एकावशेषगर्भा भवन्ति लवसप्तमा देवाः ॥ २ ॥ अर्थ—सप्तलव आयु अधिक होता तो सिद्धि (मोक्ष)को प्राप्त होता, अतः उतना अधिकायु न होनेसे लवसप्तमा कहा जाता है। सर्वार्थसिद्ध तथा विजयादि उत्कृष्टि स्थिति वाले विमानोंमें एक ही गर्भ संसारमें धारण करने वाले लवसप्तमा देवता होते हैं। यहाँ पर उपशम श्रेणीका वर्णन चल रहा है, अतः कोई प्रश्न करे कि उपशमश्रेणी वाला योगी तो केवल ग्यारहवें गुणस्थान तक ही चढ़ सकता है, फिर वहाँसे अवश्य ही उसका पतन होता है, अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानसे ऊपर वह चढ़ ही नहीं सकता, वहाँसे उसको अवश्य ही नीचे गिरना पड़ता है, तो फिर वह मोक्ष जानेके योग्य कैसे कहा जा सकता है? इस शंकाका निराकरण इस प्रकार समझना कि एक मुहूर्त्त सतत्तर लवका होता है और एक मुहूर्त्तका ग्यारहवाँ भाग सप्त लव कहा जाता है, इस लिए सप्त लव अवशेष आयु वाला ही योगी श्रेणी गत ग्यारहवें गुणस्थानसे उपशमश्रेणीको भेदन करके नीचे सातवें गुणस्थानमें आता है। वहाँसे फिर आठवेंके आद्यंशसे क्षपकश्रेणीमें आरूढ होता है और पूर्वोक्त सप्त लवके अन्दर ही क्षीण मोह नामा बारहवें गुणस्थानके अन्तको प्राप्त करके अन्त-कृत केवली होकर मोक्षमें जाता है। इस प्रकारसे उपशमश्रेणी वाला योगी भी उसी भवमें मोक्ष जा सकता है। जो लंबी आयु

वाला योगी उपशमश्रेणीमें प्रवेश करता है, वह उपशमश्रेणीको खंडित नहीं करता, ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त चढ़ता है, ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्र मोहनीय कर्मको सर्वथा उपशान्त कर देता है, मगर सत्तामें दबाई हुई कर्म प्रकृतियाँ उसे वहाँसे ऊपर नहीं चढ़ने देतीं। उस योगीको वहाँसे मोहनीय कर्मकी प्रकृति ही नीचे पटकती हैं।

आत्माको निर्मल करने वाले गुणोंकी शास्त्रकारोंने दो श्रेणियाँ विभक्त कर दी हैं। जिसमें एक उपशमश्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी है। उपशमश्रेणी यद्यपि आत्माको निर्मल करती है, परन्तु वह ग्यारहवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं चढ़ने देती। यदि उपशम श्रेणीवाले महात्माकी आयु पूर्ण होनेसे वह श्रेणी ही के अन्तर्गत काल कर जाय तो देवलोकमें जाता है। यदि ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचे पड़ कर मिथ्यात्वमें आ जाय तो वह नीच गतियोंमें भी चला जाता है और ग्यारहवें गुणस्थानसे पड़ता हुआ सातवें गुणस्थानमें आ पड़े तो वह क्षपकश्रेणीमें आरूढ़ होकर मोक्षमें भी जा सकता है। अब रही क्षपकश्रेणी—क्षपकश्रेणी वाला महात्मा ध्यानानलसे कर्मोंको भस्म ही करता हुआ ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ता है, अतः उसे किसी भी गुणस्थानमें रुकावट करने वाली कोई वस्तु नहीं। वह महात्मा क्षीणमोह नामा बारहवें गुणस्थानके अन्तमें केवल ज्ञान पर्यन्त अखंड क्षपकश्रेणीसे जाता है, अर्थात् क्षपकश्रेणीवाले महात्माको अवश्यमेव क्षपक श्रेणीमें केवल ज्ञान प्राप्त होता है और उसकी गति भी सिवाय मोक्षके अन्य नहीं।

उपशमक महात्मा अपूर्व करणादि गुणस्थानोंमें जिन कर्म प्रकृतियोंको जिस प्रकार उपशान्त करता है सो कहते हैं—

अपूर्वादि द्वयेकैक गुणेषु शमकः क्रमात्।
करोति विंशतेः शान्ति, लोभाणुत्वं च तच्छमम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—अपूर्वकरणादि दो गुणस्थानोंमें और एक एक आगेके गुण स्थानोंमें शमक महात्मा मोहनीय कर्मकी क्रमसे वीस प्रकृतियोंको उपशान्त करता है, तथा लोभ प्रकृतिकी लघुता और उसको उपशम करता है।

व्याख्या—शमक महात्मा अपूर्वकरण तथा अनिवृत्ति वादर, इन आठव और नववें गुणस्थानोंमें सात प्रकृतियोंसे उत्तर एक संज्वलन लोभको वर्ज कर मोहनीय कर्मकी वीस प्रकृतियोंको उपशान्त करता है। इसके वाद क्रमसे आगे वढ़ता हुआ सूक्ष्म संपराय नामक दशवें गुणस्थानमें जा कर संज्वलन लोभको विलकुल सूक्ष्म–पतला कर देता है। फिर क्रमसे आगे वढ़ता हुआ उपशान्तमोह नामा ग्यारहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है और दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्म किये हुए पूर्वोक्त संज्वलन लोभको वहाँ पर ही सर्वथा उपशान्त कर देता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें रहा हुआ महात्मा १ एक ही प्रकृतिका वन्ध करता है, ५९ उणसठ प्रकृतियोंको वेदता है और १४८ एकसौ अड़तालीस ही कर्म प्रकृतियोंको सत्तामें रखता है।

उपशान्तमोह गुणस्थानमें जिस प्रकारका सम्यक्त्व, चारित्र और भाव, उपशमक योगीको होता है सो कहते हैं–

शान्तदृग्वृत्त मोहत्वा–दत्रौपशमिकाभिधे।
स्यातां सम्यक्त्वचारित्रे, भावश्चोपशमात्मकः॥४३॥

श्लोकार्थ–शान्त दृग्वृत्तमोह होनेसे यहाँ पर सम्यक्त्व और

चारित्र औपशमिक ही होता है तथा भाव भी उपशमात्मक ही होता है।

व्याख्या—उपशान्त मोह गुणस्थानमें दर्शन चारित्र मोहनीयकी उपशमता होनेसे सम्यक्त्व और चारित्र औपशमिक ही होता है और भाव भी औपशमिक ही होता है, किन्तु क्षायिक या क्षायोपशमिक नहीं होता। जीवको बारहवें गुणस्थानके अन्तिम भागमें मोक्षके निदानभूत कैवल्य ज्ञानकी प्राप्ति होती है, परन्तु कर्मकी ऐसी विचित्र लीला है, कि बारहवें गुणस्थानके नजीकमें गया हुआ, अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़कर भी जीव एक मोहनीय कर्मके प्रभावसे नीचे गिर पड़ता है।

ग्यारहवें गुणस्थानसे किस प्रकार योगी नीचे पड़ता है सो कहते हैं—

वृत्तमोहोदयं प्राप्योपशमी च्यवते ततः।
अधः कृतमलं तोयं, पुनर्मालिन्यमश्नुते ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ—जिस तरह नीचे मल दबा हुआ पानी निमित्त पाकर मलीनताको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही वृत्त मोहके उदयको प्राप्त करके उपशमी पूर्वोक्त गुणस्थानसे च्युत होता है।

व्याख्या—जिस प्रकार किसी एक पानीके कुण्डमें नीचे कीचड़ भरा हुआ हो और ऊपर स्वच्छ पानी होता है, किन्तु किसी निमित्तके मिलने पर वह स्वच्छ भी पानी मलीनताको प्राप्त हो जाता है, बस वैसे ही उपशमी महात्मा भी चारित्र मोहनीय कर्मके उदय भावको प्राप्त करके ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचे गिरता है। आठों कर्मोंमें शास्त्रकारोंने मोहनीय कर्म सबसे प्रबल बताया है सो सत्य ही है, क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़कर भी

उपशमश्रेणीवाला महात्मा मोहजनित प्रमाद रूप कालुष्यतामें पड़कर पुनः संसार चक्रमें परिभ्रमण करता है। शास्त्रमें भी कहा है–सुअ केवली आहारग, उज्जुमई उवसंत गाविहुपमाया। हिंडंति भवमणंतं तयणंतरमेव चउगइआ ॥ १ ॥ अर्थ–श्रुतकेवली–चतुर्दश पूर्वके पाठी, आहारक लब्धिवाले, तथा ऋजुमति ज्ञानको धारण करनेवाले महात्मा भी मोहजन्य प्रमादके वश होकर चतुर्गतिरूप संसारमें अनन्ते भव परिभ्रमण करते हैं। उपशमश्रेणीवाला महात्मा कहाँ तक चढ़ सकता है और पड़ कर किस गुणस्थानमें जाता है सो कहते हैं–

अपूर्वाद्यास्त्रयोप्यूर्द्ध्वमेकं यान्ति शमोद्यताः।
चत्वारोपि च्युतावाद्यं, सप्तमं वान्त्यदेहिनः ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ–अपूर्वकरणादि गुणस्थानवाले उपशमक उपशम करनेमें उद्यम करते हुए तीनों ही ऊपर एक गुणस्थानमें जाते हैं और च्युत होकर चारों ही प्रथम गुणस्थानमें आते हैं, तथा अन्त्य देही सातवें गुणस्थानमें आते हैं।

व्याख्या–उर्ध्व गमनको आश्रय करके उपशमश्रेणीगत योगी एक एक गुणस्थानको प्राप्त करते हैं, अर्थात् अपूर्वकरण गुणस्थानसे अनिवृत्ति बादर गुणस्थानको प्राप्त करते हैं, अनिवृत्ति बादर गुणस्थानसे सूक्ष्म संपराय गुणस्थानको प्राप्त करते हैं और सूक्ष्म संपराय वाले उपशान्तमोह गुणस्थानको प्राप्त करते हैं। पतन विषयमें अपूर्वकरण गुणस्थानसे लेकर उपशान्त मोह गुणस्थान पर्यन्तवाले चारों ही योगी प्रथमके मिथ्यात्व नामा गुणस्थानमें जाते हैं। किन्तु जो योगी उसी भवमें मोक्ष जानेवाला है, वह पूर्वोक्त गुणस्थानोंसे पड़ता हुआ सातवें गुणस्थानमें आकर क्षपकश्रेणीमें आरूढ़ हो जाता है। जिसने उस भवमें एक ही

दफा उपशम श्रेणी प्राप्त की हो या सर्वथा श्रेणी प्राप्त ही न की हो वही योगी क्षपक श्रेणीको प्राप्त कर सकता है, परन्तु जिसने उसी भवमें दो दफा उपशम श्रेणी प्राप्त कर ली हों, वह महात्मा उस भवमें फिर क्षपक श्रेणी नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्रमें फरमाया है—जीवो हु एग जम्मंमि, इक्कसिं उवसामगो। खयंपि कुज्जा नो कुज्जा, दो वारे उवसामगो ॥१॥ अर्थ—एक भवमें जिस जीवने एक दफा उपशम श्रेणी की है वह जीव उसी भवमें क्षपक श्रेणी कर सकता है, परन्तु जिसने एक भवमें दो दफा उपशम श्रेणी की हो वह फिर उसी भवमें क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता।

उपशम श्रेणीको प्राणी कितनी दफा प्राप्त कर सकता है सो कहते हैं—

आसंसारे चतुर्वारमेवस्याच्छमनावली।
जीवस्यैकभवे वारद्वयं सा यदि जायते ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ—संसार पर्यन्त जीवको चार दफा उपशम श्रेणी प्राप्त होती है और यदि एक भवमें होवे तो दो दफा हो सकती है।

व्याख्या—अनादि सान्त संसार पर्यन्त जीवको उपशम श्रेणी चार वार प्राप्त हो सकती है, अर्थात् जब तक जीव संसारसे मुक्त न हो—मोक्ष प्राप्त न करे तब तक वह जीव उपशम श्रेणीको चार दफा प्राप्त कर सकता है और यदि एक भवमें उत्कृष्ट तया (अधिकसे अधिक) प्राप्त करे तो केवल दो दफा कर सकता है। शास्त्रमें भी कहा है—उवसमसेणि चउक्कं, जायइ जीवस्स आभवं नूणं। सापुण दो एग भवें, खवगस्सेणी पुणो एगो ॥१॥ अर्थ—जीवको उपशम श्रेणी तमाम संसारमें चार दफा प्राप्त होती है और यदि एक भवमें अधिकसे अधिक हो तो दो दफा प्राप्त हो सकती है, तथा क्षपक श्रेणीको तो जीव तमाम संसारमें अर्थात्

जब तक वह जीव संसारमें है, मोक्ष प्राप्त नहीं करता तब तक एक ही दफा प्राप्त करता है ॥

अब क्षपक श्रेणीका स्वरूप लिखते हैं–

अतो वक्ष्ये समासेन, क्षपकश्रेणीलक्षणम् ।
योगी कर्मक्षयं कर्त्तुं, यामारुह्य प्रवर्तते ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ–जिसे आरोहण करके योगी कर्म क्षय करनेको प्रवृत्त होता है, अब उसी क्षपक श्रेणीका लक्षण कथन करेंगे ।

व्याख्या–जिस क्षपक श्रेणीको आरोहण करके क्षपक योगी अनादि काल संचित कर्मोंको क्षय करनेके लिए प्रवृत्त होता है, अब उसीका स्वरूप संक्षेपसे कथन करते हैं ।

आठवें अपूर्वकरण नामा गुणस्थानसे पहले क्षपक महात्मा जिन जिन कर्म प्रकृतियोंको क्षय करता है उन्हें तीन श्लोकों द्वारा बताते हैं–

अनिबद्धायुषः प्रान्त्यदेहिनो लघुकर्मणः ।
असंयत–गुणस्थाने नरकायुः क्षयं व्रजेत् ॥ ४८ ॥
तिर्यगायुः क्षयं याति, गुणस्थाने तु पंचमे ।
सप्तमे त्रिदशायुश्च दृग्मोहस्यापि सप्तकम् ॥ ४९ ॥
दशैताः प्रकृतीः साधुः क्षयं नीत्वा विशुद्धधीः ।
धर्मध्याने कृताभ्यासः, प्राप्नोति स्थानमष्टमम् ॥५०॥

श्लोकार्थ–जिस महात्माने आयु न बाँधा हो उस अन्त देहधारी लघु कर्मी क्षपक योगीका नरक संबन्धि आयु असंयत गुणस्थानमें क्षय हो जाता है, पंचम गुणस्थानमें तिर्यंच संबन्धि आयु नष्ट हो जाता है तथा सातवें गुणस्थानमें देवता संबन्धि

आयु और दृग्मोह सप्तक क्षय होता है। इन दश प्रकृतियोंको पूर्वोक्त गुणस्थानोंमें क्षय करके तथा धर्म ध्यानमें अभ्यास करके विशुद्ध बुद्धिवाला महात्मा आठवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है।

व्याख्या—जिसने अभी तक आयुका बन्ध नहीं किया है वह चरम शरीरी क्षपक महात्मा असंयत—अविरति नामा चतुर्थ गुणस्थानमें नरक संबन्धि आयुके बन्धको सत्तामेंसे नष्ट कर देता है, पाँचवें गुणस्थानमें जा कर वह महात्मा तिर्यंच संबन्धि आयु बन्धके योग्य कर्म दलियोंको जड़ मूलसे क्षय कर देता है और सातवें गुणस्थानमें जा कर देवता संबन्धि आयु बन्धके योग्य कर्म प्रकृतियोंको नष्ट करके चार अनन्तानुबन्धि और तीन मोहनी, इस दृग्मोह सप्तकको क्षय करता है। इस प्रकार एकसौ अड़तालीस कर्म प्रकृतियोंमेंसे पूर्वोक्त दश कर्म प्रकृतियोंको नष्ट करके क्षपक योगी एकसौ अड़तीस कर्म प्रकृति सत्तावाले आठवें गुणस्थानको प्राप्त करता है। क्षपक महात्मा पूर्वोक्त गुणस्थानोंसे उत्कृष्ट धर्म ध्यानका अभ्यास करता हुआ ही आठवें गुणस्थानमें जाता है, क्योंकि अभ्यास द्वारा ही मनुष्य उच्च गुणोंको प्राप्त करता है और अभ्याससे ही मनुष्यको तत्वकी प्राप्ति होती है। शास्त्रमें भी कहा है—अभ्यासेन जिताहारोऽभ्यासेनैव जितासनः। अभ्यासेन जितश्वासोऽभ्यासेनैवानिलत्रुटिः ॥ १ ॥ अभ्यासेन स्थिरं चित्तमभ्यासेनजितेन्द्रियः। अभ्यासेन परानन्दोऽभ्यासेनैवात्मदर्शनम् ॥ २ ॥ अभ्यासवर्जितैर्ध्यानैः, शास्त्रस्थैर्फलमस्ति न। भवेन्नहि फलैस्तृप्तिः, पानीय—प्रतिबिम्बितैः ॥ ३ ॥ अर्थ—अभ्यास द्वारा ही मनुष्य आहारको जीत सकता है, अभ्यास द्वारा ही दृढ आसन कर सकता है, अभ्यास द्वारा ही श्वासका निरोध कर सकता है, अभ्याससे ही इन्द्रियोंको जीत

सकता है, अभ्याससे चित्त स्थिर हो सकता है, अभ्याससे ही परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है और अभ्यास ही से मनुष्य आत्माका दर्शन कर सकता है। परन्तु अभ्यास वर्जित शास्त्रमें रहे हुए ध्यानसे आत्माको कुछ भी फलप्राप्ति नहीं। जैसे पानीमें प्रतिबिंबित फलोंसे मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती, वैसे ही शास्त्रमें रहे हुए ज्ञान ध्यान वगैरह साधनसे भी कुछ लाभ नहीं, किन्तु जब उसका अभ्यास किया जाय, उसे आचरणामें लिया जाय तब ही वह साधन आत्म गुणोंका साधन हो सकता है अन्यथा नहीं। अतः क्षपक महात्मा नीचेके गुणस्थानोंसे धर्म ध्यानका अभ्यास करता हुआ ही आठवें गुणस्थानमें चढ़ता है।

आठवें गुणस्थानमें क्षपक योगी शुक्ल ध्यानका प्रारंभ करता है इस लिए अब उसीको बताते हैं–

तत्राष्टमे गुणस्थाने, शुक्लसद्ध्यान–मादिमम्।
ध्यातुं प्रक्रमते साधुराद्यसंहन नान्वितः ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ–इस आठवें गुणस्थानमें आद्य संहनन वाला साधु प्रथम शुक्ल ध्यानको प्रारंभ करता है।

व्याख्या–आठवें गुणस्थानमें आकर क्षपक योगी शुक्ल ध्यानके प्रथम पायेको प्रारंभ करता है, अर्थात् सपृथक्त्व, सवितर्क और सविचार, इस तीन भेद वाले शुक्लध्यानके प्रथम पायेको ध्यानका विषय करता है। यह क्षपक महात्मा वज्र ऋषभ नाराच नामक प्रथम संहनन वाला होता है।

अब दो श्लोकों द्वारा ध्यानका स्वरूप बताते हैं–

निष्प्रकंपं विधायाथ, दृढं पर्यङ्क मासनम्।
नासाग्र दत्तसन्नेत्र, किञ्चिदुन्मीलितेक्षणः ॥५२॥

विकल्पवागुरा-जालाद्दूरोत्सारित-मानसः ।
संसारोच्छेदनोत्साहो, योगीन्द्रो ध्यातुमर्हति ॥५३॥

श्लोकार्थ-निश्चल पर्यंक आसन करके, नासिकाके अग्र भाग पर दृष्टि लगाकर अर्ध विकासित कमलके समान थोड़ीसी खुली हुई आँखें रखकर, विकल्परूप वागुराजालसे मनको दूर करके और संसारको उच्छेद करनेमें उत्साहित होकर योगीन्द्र ध्यान करनेके योग्य होता है।

व्याख्या-व्यवहार नयकी अपेक्षासे क्षपक महात्मा निविड़ दृढ पर्यंक आसन करके ध्यान करनेके योग्य होता है, क्योंकि दृढ आसन ही ध्यानका प्रथम प्राण कहा जाता है। पर्यंक आसन जंघाओंके अधो भागमें पैर ऊपर पैर चढ़ानेसे होता है।

कितने एक योगी पुरुष इसे सिद्धासन भी कहते हैं। कितने एक योगियोंका मत है कि जिस आसनसे चित्तको स्थिरता प्राप्त हो वही आसन श्रेष्ठ है, योगियोंको अमुक ही आसन होना चाहिये यह कोई नियम नहीं। जब योगी महात्मा ध्यानारूढ होता है तब उसकी मुद्रा बड़ी ही अद्भुत होती है। नासिकाके अग्र भाग पर निश्चल दृष्टी लगी हुई होती है, अर्ध विकसित कमलके समान नेत्रोंमें प्रसन्नता भाव भरा हुआ होता है तथा उस दशामें उस योगीका अन्तःकरण संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर परम पवित्र होता है, क्योंकि संकल्प विकल्प रूप व्यापारसे ही प्राणी अपनी आत्माको कर्मके दलियोंसे लिप्त करता है, शास्त्रमें भी फरमाया है कि-अशुभा वा शुभा वापि, विकल्पा यस्य चेतसि। स्वं बध्नात्ययः स्वर्ण बन्धनाभेन कर्मणा ॥१॥ वरं निद्रा वरं मूर्च्छा, वरं विकलतापि वा। नत्वार्त्त रौद्र दुर्लेश्या विकल्पाकुलितं मनः॥२॥ अर्थ-जिस मनुष्यके अन्तःकरणमें शुभाशुभ विकल्प उत्पन्न होते

हैं वह मनुष्य शुभ कर्म रूप स्वर्णकी तथा अशुभ कर्मरूप लोहेकी शृंखलाओंसे अपनी आत्माको बाँधता रहता है, इसी लिए शास्त्रकारोंका यह फरमान है कि निद्रामें पड़े रहना अच्छा, मूर्च्छामें पड़े रहना अच्छा और पागल पनमें रहना अच्छा परन्तु आर्त्त, रौद्र ध्यानसे खराब लेश्याजन्य संकल्प विकल्पों सहित मन अच्छा नहीं। अतः पूर्वोक्त विकल्पोंसे रहित होनेके कारण उस महात्माका मन सर्व प्रकारकी आकांक्षाओंसे रहित होता है। उस योगीका यह उद्यम केवल आत्मरूपको प्रगट करनेके लिए ही होता है, क्योंकि आत्म स्वरूपकी प्राप्ति करने वाले ध्यानी पुरुषको ही योगकी सिद्धि होती है, शास्त्रमें कहा है कि–उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्संतोषात्तत्त्वदर्शनात्। मुनेर्जनपदत्यागात्, षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति। अर्थ–उत्साहसे, निश्चयसे, धैर्यसे, संतोषसे, तत्वका दर्शन करनेसे तथा जनपद–देशका त्याग करनेसे, इन छहोंके द्वारा मुनिराजको योगकी सिद्धि होती है। पूर्वोक्त योगी प्राणायाम द्वारा अपने प्राण वायुका निरोध करता है, इस लिए अब प्राणायामका स्वरूप लिखते हैं–

अपानद्वार मार्गेण, निस्सरन्तं यथेच्छया।
निरुध्योर्द्ध्वं प्रचारांप्ति, प्रापयत्यनिलं मुनिः ॥५४॥

श्लोकार्थ–अपान मार्गद्वारा स्वेच्छापूर्वक निकलते हुए वायुको संकुचित करके मुनि ऊपरको प्राप्त करता है।

व्याख्या–ध्यानी महात्मा गुदा मार्गसे स्वेच्छापूर्वक निकलते हुए पवनको अपनी शक्तिसे संकुचित करके दशवें द्वारमें चढ़ाता है, अर्थात् मूल बन्धकी युक्तिसे गुदा मार्गसे निकलते हुए प्राणवायुको रोक कर ऊपरको चढ़ाता है। पैरोंके पार्ष्णि भागसे गुदा और पुरुष चिन्हके मध्य भागको दबा कर अपान

वायुको ऊपरको खींचे, इस प्रकार जो अपान वायुको ऊपर चढ़ाया जाता है उसे मूल बन्ध कहते हैं। ध्यान दण्डक स्तुति नामा ग्रंथमें भी कहा है—संकोच्यापानरन्ध्रं हुतवह सदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपं, धृत्वाहृत्पद्मकोशे तदनु च गलकेतालुनि प्राणशक्तिम्। नीत्वा शून्याति शून्यां पुनरपि खगतिं दीप्यमानां समन्ताल्लोकालोकावलोकां कलयति सकलां यस्य तुष्टोजिनेशः ॥ १ ॥ अत्र पूरक प्राणायामका स्वरूप कहते हैं—

द्वादशाङ्गुल पर्यन्तं, समाकृष्य समीरणम्।
पूरयत्यतियत्नेन, पूरकध्यान—योगतः ॥ ५५ ॥

श्लोकार्थ—योगी पुरुष अति प्रयत्नसे बारह अंगुल पर्यन्त वायुको खींच कर पूरक ध्यानके योगसे पूरता है।

व्याख्या—बारह अंगुल पर्यन्त बहते हुए पवनको बाहरसे खींच कर योगी पुरुष बड़े प्रयत्नसे अन्दरके कोठेको या नाड़ी गणको पूर्ण करता है, अर्थात् पूर्वोक्त प्राण वायु द्वारा शरीरस्थ कोठे या नाड़ी गणको पूरता है, इसे ही पूरक प्राणायाम कहते हैं। शरीरस्थ वायु नासिकाकी दोनों नाड़ियों द्वारा हमेशह पाँच तत्वोंमें बहता है। जब आकाश तत्वमें वायु बहता है तब फक्त नासिकाके अन्दर ही बहता है। तेजसतत्वमें बहता हुआ वायु नासिकासे चार अंगुल बाहर उर्ध्व गमन करता है। वायु तत्वमें बहता हुआ नासिकासे बाहर छः अंगुल तिरछि गति करता है। पृथ्वी तत्वमें बहता हुआ नासिकासे बाहर आठ अंगुल मध्यम भावसे याने ऊँचाई नीचाईको वर्ज कर समान गतिसे ठहरता है। जल तत्वमें बहता हुआ नासिकासे बाहर बारह अंगुल पर्यन्त नीची गति करता है और जल तत्वमें ही बहता हुआ वायु अ-

मृतके समान माना है, वस उस जल तत्ववाले अमृतमय वायुको वारह अंगुल वाहरसे समाकर्षण करके योगी अपने शरीरस्थ कोठेको परिपूर्ण करता है, उसे ही पूरक प्राणायाम कहते हैं। कितने एक योगी पुरुष इसे पूरक ध्यान क्रिया भी कहते हैं, क्योंकि क्षपक श्रेणीमें प्राणायामकी खास आवश्यक्ता हो ऐसा कुछ नियम नहीं, जो कि शास्त्रमें कहा है—वक्रघ्राण प्राणमाकृष्यतेन, स्थानं भित्वा ब्रह्म सूरीश्वराणाम्। स्थूलाः सूक्ष्मा नाडिकाः पूरयेद्यद्, विज्ञातव्यं कर्मतत्पूरकाख्यम् ॥ १ ॥

अव रेचक प्राणायाम कहते हैं—

निस्सार्यते ततो यत्नान्नाभिपद्मोदराच्छनैः।
योगिना योग सामर्थ्याद्रेचकाख्य प्रभंजनः ॥५६॥

श्लोकार्थ—योगी पुरुष योग सामर्थ्यसे नाभिपद्मोदरसे प्रयत्नपूर्वक जो धीरे धीरे वायुको निकालता है उसे रेचक नामा वायु कहते हैं।

व्याख्या—योगी महात्मा प्राणायामके अभ्यास वलसे रेचक नामा पवनको नाभिकमल द्वारसे प्रयत्नपूर्वक धीरे धीरे अन्दरसे वाहर निकालता है, उस क्रियाको रेचक ध्यान या रेचक प्राणायाम कहते हैं। पद्मासन लगा कर दोनों हाथोंको कमर पीछेसे निकाल कर बाँये हाथसे दक्षिण तर्फके और दहणे हाथसे बांये तर्फके पैरके अंगुष्ठेको पकड़नेसे वज्रासन होता है। इस वज्रासनसे शरीरको स्थिर करके बुद्धि तथा चित्तको स्थिर करके रेचक नामा पवनको उत्पन्न करता है और योग शक्तिसे उस पवनको नाभि मार्ग द्वारा वाहर निकालता है, इसीको शास्त्रकार रेचक कर्म भी कहते हैं।

अब शास्त्रकार कुम्भक प्राणायाम कहते हैं-

कुम्भवत्कुम्भकं योगी, श्वसनं नाभिपङ्कजे।
कुम्भक ध्यानयोगेन, सुस्थिरं कुरुते क्षणम् ॥५७॥

श्लोकार्थ-योगी कुंभक ध्यान योगसे कुंभके समान कुंभक नामा पवनको नाभि कमलमें क्षणवार स्थिर करता है।

व्याख्या-योगी महात्मा कुंभक कर्म या कुंभक ध्यानके प्रयोगसे कुंभवत-घटके समान घटाकार करके कुंभक नामा पवनको नाभि कमलमें स्थिर करता है। कहा भी हैं-चेतसि श्रयति कुम्भकचक्रं, नाडिकासु निविडकृतवातः। कुम्भवत्तरति यज्जल मध्ये, तद्वदन्ति किल कुम्भकं कर्म ॥१॥ पवनको जीतनेसे मन जीता जा सकता है, इसलिए अब शास्त्रकार इसीके विषयमें कहते हैं-

इत्येवं गन्धवाहाना-माकुञ्चनविनिर्गमौ।
संध्यायन्निश्चलं धत्ते, चित्तमेकाग्रचिन्तने ॥५८॥

श्लोकार्थ-इस प्रकार पवनके आकुंचन (संकोच) और निर्गमनको साध कर (योगी) एकाग्र चिन्तवनमें चित्तको निश्चल करता है।

व्याख्या-इस पूर्वोक्त प्रकारसे पूरक, रेचक और कुंभक प्राणायामके क्रमसे योगी महात्मा प्राण वायुके संकोच तथा निर्गमनका अभ्यास करके अपने मनको एकाग्र करके समाधि ध्यानमें निश्चल करता है, क्योंकि प्राण वायुके साथ मनका संबन्ध है। जहाँ पर मन है वहाँ पर प्राणवायु है और जहाँ पर प्राणवायु है वहाँ पर मन है। जिस प्रकार दूध और पानीका मेल या संबन्ध है, उसी तरह सदा काल समान ही क्रिया वाले मन और

वायुका मेल या संबन्ध है। जब तक जहाँ पर वायुकी प्रवृत्ति होती है तब तक वहाँ पर मनकी प्रवृत्ति होती है और जब तक जहाँ पर मनकी प्रवृत्ति होती है तब तक वहाँ पर वायुकी भी प्रवृत्ति अवश्य होती है। जब दोनोंमेंसे एकका भी नाश हो जाता है तब दूसरेका स्वतः ही नाश हो जाता है और एककी प्रवृत्ति होनेसे दूसरेकी प्रवृत्ति भी स्वतः ही हो जाती है। मन और वायुकी प्रवृत्ति नष्ट होनेसे इन्द्रिय वर्गकी शुद्धि होती है और इन्द्रिय वर्गका नाश होनेसे मोक्ष पदकी सिद्धि होती है। वायुके जय करनेसे ही मनकी निश्चलता प्राप्त होती है और तथा प्रकारकी निश्चलताको प्राप्त करके योगी महात्मा निष्प्रकंप तया ध्यानमें लीन हो सकता है। मन और पवनको जीतने वाले योगी महात्मा सदा काल ध्यानमें निश्चल रहते हैं। शास्त्रमें कहा भी है—प्रचलति यदि क्षोणीचक्रं चलन्त्यचला अपि, प्रलय पवन प्रेंखा लोलाश्चलन्ति पयोधयः। पवनजयिनः सावष्टम्भप्रकाशित शक्तयः, स्थिरपरिणतेरात्मध्यानाच्चलन्ति न योगिनः ॥ १ ॥ अर्थ—कदाचित् पृथ्वी चक्र चलायमान हो जाय, पर्वत चलायमान हो जायँ. प्रलय कालके प्रचंड पवनसे समुद्र भी चलायमान हो जायँ तथापि पवनको जीतने वाले, अवष्टंभ सहित अपनी शक्तिको प्रकाशित करने वाले और स्थिर परिणति होनेसे योगी महात्मा आत्म ध्यानसे चलायमान नहीं होते। उन योगियोंको जो कुछ उस समाधि ध्यानमें आनन्दका अनुभव होता है सो वे ही जान सकते हैं ॥

अब शास्त्रकार भावकी प्रधानता बताते हैं—

प्राणायामक्रमप्रौढि रत्र रूढयैव दर्शिता।
क्षपकस्य यतः श्रेण्यारोहे भावो हि कारणम् ॥ ५९ ॥

श्लोकार्थ–यहाँ पर प्राणायामके क्रमकी प्रौढी रूढीसे ही दिखाई है, क्योंकि क्षपक महात्माको क्षपक श्रेणी आरोहण करनेमें भाव ही कारण होता है।

व्याख्या–क्षपक श्रेणीके आरोहण करनेमें जो यहाँ पर प्राणायाम क्रम प्रौढी याने पवन जीतनेके अभ्यासकी प्रगल्भता बताई गई है, वह केवल रूढीसे ही कथन की गई है, अन्यथा क्षपक श्रेणी वाले महात्माको केवल–ज्ञानोत्पत्तिमें कारणभूत भाव ही प्रधान होता है, परन्तु प्राणायाम आदि आडंबरकी आवश्यक्ता नहीं। किसी चर्पटी नामा तत्ववेत्ताने भी कहा है–नासाकन्दं नाडीवृन्दं, वायोश्चारः प्रत्याहारः। प्राणायामो वीज ग्रामो ध्यानाभ्यासो मंत्र न्यासः ॥ १ ॥ हृत्पद्मस्थं भ्रूमध्यस्थं, नासाग्रस्थं श्वासान्तःस्थं। तेजः शुद्धं ध्यानं बुद्धं, ॐकाराख्यं सूर्यप्रख्यम् ॥ २ ॥ ब्रह्माकाशं शून्याभासं, मिथ्याजल्पं चिन्ताकल्पं। कायाक्रान्तं चित्तभ्रान्तं त्यक्त्वा सर्वं मिथ्यागर्वं ॥३॥ गुर्वादिष्टं चिन्तोत्सृष्टं, देहातीतं भावोपेतं। त्यक्तद्वन्द्वं नित्यानन्दं शुद्धतत्त्वं जानीहि त्वम् ॥ ४ ॥ इसी प्रकार और भी किसी एक महात्माका कथन है–ॐकाराभ्यसनं विचित्र करणैः प्राणस्य वायोर्जयात्, तेजश्चिन्तनमात्मकाय कमले शून्याम्बरालम्बनम्। त्यक्त्वा सर्वमिदं कलेवरगतं चिन्तामनोविभ्रमं तत्त्वं पश्यत जल्पकल्पनकलातीतं स्वभावस्थितम् ॥ १ ॥

अब शुक्लध्यानके चार पायोंमेंसे प्रथम पायेका नाम बताते हैं–

सवितर्कं सविचारं, सपृथक्त्वमुदाहृतम्।
त्रियोगयोगिनः साधो राद्यंशुक्लं सुनिर्मलम् ॥ ६० ॥

श्लोकार्थ–सवितर्क, सविचार और सपृथक्त्व, इन तीन भेद

युक्त निर्मल प्रथम शुक्ल ध्यान तीन योगयुक्त साधुको होता है ।

व्याख्या–मन वचन कायाके योगवाले महामुनिराजको शुक्ल ध्यानका प्रथम पाया होता है । वह प्रथम पाया सवितर्क, सविचार और सपृथक्त्व, इन तीन भेदवाला होता है ।

अब इन तीनों भेदोंका ही शास्त्रकार स्वरूप बताते हैं–

श्रुतचिन्ता वितर्कः स्यात्, विचारः संक्रमो मतः ।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं, भवत्येतत्त्रयात्मकम् ॥६१॥

श्लोकार्थ–श्रुत चिन्ताको वितर्क, संक्रमको विचार और अनेकत्वको पृथक्त्व कहते हैं, इन तीन भेदात्मक ही शुक्ल ध्यानका प्रथम पाया होता है ।

व्याख्या–श्रुत ज्ञानका चिन्तवन रूप वितर्क नामा शुक्लध्यानके प्रथम पायेका पहला भेद समझना, तथा अर्थ और शब्दादिके योगान्तरोंमें जो संक्रमण होता है उसे विचार नामा दूसरा भेद जानना और द्रव्य गुण पर्यायादि द्वारा जो अन्यत्व है उसे पृथक्त्व कहते हैं ।

अब शास्त्रकार क्रमसे इन तीनोंका स्पष्टार्थ कहते हैं–

स्वशुद्धात्मानुभूतात्म–भावश्रुतावलम्बनात् ।
अन्तर्जल्पो वितर्कः स्याद्, यस्मिं स्तत्सवितर्कजम् ॥

श्लोकार्थ–स्वकीय शुद्धात्म रूप तत्त्वके अनुभव श्रुतावलंबनसे जिस ध्यानमें अन्तर्जल्प रूप वितर्क होता है, उसे सवितर्कजन्य शुक्ल ध्यान कहते हैं ।

व्याख्या–स्वकीय निर्मल परमात्म रूप परमतत्त्वका अनुभवमय आगमका अवलंबन जो अन्तरंगको प्राप्त हुआ है, उस

अवलंबनसे जिस ध्यानमें अन्तर्जल्प याने विचारणात्मक अन्तरंग ध्वनिरूप वितर्क उत्पन्न होता है उसे ही सवितर्क ध्यान कहते हैं॥

अब सविचार ध्यानका स्वरूप लिखते हैं-

अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः।
योगाद्योगान्तरे यत्र, सविचारं तदुच्यते॥ ६३॥

श्लोकार्थ-जिस ध्यानमें अर्थसे अर्थान्तरमें, शब्दसे शब्दान्तरमें तथा योगसे योगान्तरमें संक्रमण होता है, उसे सविचार ध्यान कहते हैं।

व्याख्या-जिस ध्यानमें पूर्वोक्त विचारणात्मक एक अर्थसे दूसरे अर्थमें, एक शब्दसे दूसरे शब्दमें और एक योगसे दूसरे योगमें संक्रमण होता है, उसे ही सविचार या ससंक्रमण ध्यान कहते हैं।

अब पृथक्त्वका स्वरूप बताते हैं-

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति, गुणाद्याति गुणान्तरं।
पर्यायादन्यपर्यायं, सपृथक्त्वं भवत्यतः॥ ६४॥

श्लोकार्थ-द्रव्यसे द्रव्यान्तरमें, गुणसे गुणान्तरमें और पर्यायसे पर्यायान्तरमें जो पूर्वोक्त वितर्कका गमन होता है उसे सपृथक्त्व ध्यान कहते हैं।

व्याख्या-पूर्वोक्त वितर्क जो अर्थ, व्यंजन, योगान्तरोंमें संक्रमण रूप भी स्वकीय निर्मल आत्म द्रव्यान्तरमें गमन करता है या गुणसे अन्य गुणमें और पूर्व पर्यायोंसे अपर पर्यायोंमें संक्रमण करता है, उसे ही सपृथक्त्व कहते हैं। द्रव्यमें जो सहभावी धर्म होता है, उसे गुण कहते हैं और उसी द्रव्यमें जो क्रमभावी धर्म है उसे पर्याय कहते हैं।

जिस प्रकार सुवर्ण द्रव्यमें पीतता (पीलापन) धर्म स्वाभाविक ही है, उसी प्रकार सर्व द्रव्योंके अन्दर कोई न कोई स्वाभाविक ही सहचारी धर्म होता है, उसे ही गुण कहते हैं। उसीप्रकार सुवर्ण द्रव्यके कुंडल, कडे, मुद्रिका, मुकुटादि आभूषण बन कर जुदे जुदे रूपको धारण करते हैं, ये भिन्न रूप सुवर्ण द्रव्यके पर्याय कहे जाते हैं। इसी तरह आत्म द्रव्यके अन्दर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, ये गुण हैं और उपाधी भेदसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवता, अथवा मनुष्य तथा तिर्यंचोंमें बाल तरुण और वृद्धादिक अवस्थाओंको जो आत्मा धारण करती है उन आत्माके रूपान्तरोंको या अवस्था भेदोंको ही आत्म द्रव्यके पर्याय कहते हैं। इन पूर्वोक्त द्रव्य, गुण, पर्यायोंमें वितर्क नामा ध्यानका संक्रमण होनेसे उसे अन्यत्व सिद्ध होता है, अतएव उसे सपृथक्त्व कहते हैं॥

अब प्रथम शुक्ल ध्यान जन्य शुद्धि बताते हैं-

इति त्रयात्मकं ध्यानं, प्रथमं शुक्लमीरितं।
प्राप्नोत्यतः परां शुद्धिं, सिद्धि श्रीसौख्यवर्णिकाम्॥६५॥

श्लोकार्थ-यह तीन भेदात्मक प्रथम शुक्ल ध्यान कहा, इससे योगी मुक्तिश्री सुखकी वर्णिका रूप परम शुद्धिको प्राप्त करता है।

व्याख्या-जिस शुक्ल ध्यानके प्रथम पायेके ऊपर तीन भेद पृथक् पृथक् बताये गये हैं, उस प्रथम शुक्ल ध्यानको ध्याता हुआ योगी महात्मा मोक्ष लक्ष्मीके मुखको दिखानेमें निदर्शनिकाके समान परम-उत्कृष्ट शुद्धिको प्राप्त करता है, अर्थात् पूर्वोक्त शुक्ल ध्यानका ध्याता योगी मोक्ष पदकी प्राप्तिका कारण भूत परम विशुद्धिको प्राप्त करता है।

अब शास्त्रकार इसी बातको विशेष तया कथन करते हैं-

यद्यपि प्रतिपात्येतदुक्तं ध्यानं प्रजायते।
तथाप्यति विशुद्धत्वादूर्ध्वस्थानं समीहते ॥ ६६ ॥

श्लोकार्थ-यद्यपि पूर्वोक्त शुक्ल ध्यान प्रतिपाति होता है, तथापि अति विशुद्धता होनेसे ऊपरके गुणस्थानोंको प्राप्त करता है।

व्याख्या-यद्यपि पूर्वोक्त शुक्ल ध्यानका प्रथम पाया पतन शील है. तथापि इससे आत्माको अति विशुद्धता प्राप्त होनेके कारण योगी महात्मा ऊपरके गुणस्थानोंमें प्रवेश करता है। इस अपूर्वकरण नामा आठवें गुणस्थानमें रहा हुआ योगी महात्मा निद्रा, प्रचला, देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, शुभविहायो गति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तेजस शरीर, कार्मण शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग, प्रथम संस्थान, निर्माण नाम, तीर्थंकर नाम, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात नाम, पराघात नाम और श्वासोश्वास, इस तरह निद्रा और प्रचला, ये दो दर्शनावरणीय कर्मकी प्रकृतियाँ और तीस प्रकृतियाँ नाम कर्मकी, एवं बत्तीस कर्म प्रकृतियोंके बन्धका अभाव होनेसे छब्बीस कर्म प्रकृतियोंका बन्ध करता है। अर्धनाराच, कीलिका और छेवटा (सेवार्त्त) ये तीन अन्तिम संहनन तथा सम्यक्त्व मोहनी, इन चार प्रकृतियोंके उदयका अभाव होनेसे वहत्तर कर्म प्रकृतियोंको वेदता है और एकसौ अड़तीस कर्म प्रकृतियोंको सत्तामें रखता है॥

अब क्षपक योगी अनिवृत्ति बादर गुणस्थानमें चढता हुआ जिन जिन कर्म प्रकृतियोंको जहाँ जहाँ पर जिस प्रकार नष्ट करता

है, उसका स्वरूप शास्त्रकार पाँच श्लोकों द्वारा बताते हैं–

अनिवृत्तिगुणस्थानं, ततः समधिगच्छति ।
गुणस्थानस्य तस्यैव, भागेषु नवसु क्रमात् ॥ ६७ ॥
गतिः श्वाभ्री च तैरश्ची, द्वे तयोरानुपूर्विके ।
साधारणत्वमुद्योतः, सूक्ष्मत्वं विकलत्रयम् ॥ ६८ ॥
एकेन्द्रियत्वमाताप, स्त्यान गृद्ध्यादिकत्रयम् ।
स्थावरत्वमिहाद्यंशे, क्षीयन्ते षोडशेत्यमूः ॥ ६९ ॥
अष्टौ मध्यकषायाश्च, द्वितीयेऽथतृतीयके ।
षण्ढत्वतुर्यके स्त्रीत्वं, हास्यषट्कं च पञ्चमे ॥ ७० ॥
चतुर्ष्वंशेषु शेषेषु, क्रमेणैवाति शुद्धितः ।
पुंवेदश्च ततः क्रोधो, मानो माया च नश्यति ॥७१॥

पंचाभिकुलकम् ॥

श्लोकार्थ–पूर्वोक्त इसके बाद क्षपक योगी अनिवृत्ति नामा नवम गुणस्थानमें प्रवेश करता है, तथा उस नवमें गुणस्थानके नव विभागोंमें क्रमसे नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यगनुपूर्वी, साधारण नाम, उद्योत नाम, सूक्ष्म नाम, तीन विकलेन्द्रिय, एकेन्द्रिय नाम, आताप नाम, स्त्यानर्द्धि त्रिक, स्थावर नाम, इन सोलह कर्म प्रकृतियोंको पहले विभागमें क्षय करता है। मध्यके आठ कषायोंको दूसरे भागमें नष्ट करता है। तीसरे भागमें नपुंसक वेद, चौथे भागमें स्त्री वेद और पाँचवें भागमें हास्यादि षट्कको क्षय करता है। बाकीके चार विभागोंमें क्रमसे पुरुष वेद, क्रोध, मान, मायाका नाश करता है।

व्याख्या–आठवें गुणस्थानको समाप्त करके क्षपक योगी अनिवृत्तिबादर नामक नववें गुणस्थानको प्राप्त करता है। नववें गुणस्थानके नव विभाग होते हैं, उन नव विभागोंमें क्षपक महात्मा क्रमसे कर्म प्रकृतियोंको क्षय करता है। पहले विभागमें–नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यगनुपूर्वी, साधारण नाम, उद्योत नाम, सूक्ष्म नाम, द्वीन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय तक तीन विकलेन्द्रिय, एकेन्द्रिय जाति, आताप नाम, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला तथा स्त्यानर्द्धि, ये तीन निद्रा और स्थावर नाम, एवं इन सोलह कर्म प्रकृतियोंको क्षय करता है, याने सत्तामेंसे नष्ट कर देता है। अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय, जो मध्यके आठ कषाय हैं, अर्थात् अनन्तानुबन्धि और संज्वलनके कषायोंकी चौकड़ीको छोड़ कर बीचके आठ कषायोंको क्षपक योगी दूसरे विभागमें क्षय करता है, क्योंकि अनन्तानुबन्धि चार कषायोंको तो क्षपक महात्मा प्रथम ही नष्ट कर आया है। तीसरे विभागमें नपुंसक वेदको नष्ट करता है, चौथे भागमें स्त्री वेदको क्षय करता है और पाँचवें विभागमें हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, इन छः प्रकृतियोंको क्षय करता है, एवं छठे विभागमें पुरुष वेद, सातवेंमें संज्वलन क्रोध, आठवेंमें संज्वलन मान और नववें विभागमें संज्वलन मायाको क्षय करता है। इस प्रकार क्रमसे कर्म प्रकृतियोंको सत्तामेंसे क्षय करता हुआ क्षपक महात्मा प्रति समय अपनी आत्माको अति निर्मल करता हुआ आत्म ध्यानमें लीन रहता है। इस दशामें पूर्वोक्त महात्माको आत्म स्वरूप चिन्तवनके सिवाय संसारका कुछ भी ज्ञान नहीं होता, वह निरन्तर नितान्त आत्म स्वरूपके चिन्तवनमें ही मग्न रहता है। इस गुणस्थानमें रहा हुआ महात्मा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, इन छः प्रकृतियोंके बन्धका अभाव

होनेसे केवल बाईस कर्म प्रकृतियोंका वन्ध करता है, तथा पूर्वोक्त छः कर्म प्रकृतियोंके उदयका अभाव होनेसे छासठ कर्म प्रकृतियोंको वेदता है। इस नववें गुणस्थानके अन्तमें संज्वलन माया पर्यन्त छत्तीस कर्म प्रकृतियोंको सत्तामेंसे नष्ट करता है, अतः इस गुणस्थानके अन्तमें क्षपक योगी एकसौ दो कर्म प्रकृतियोंको सत्तामें रखता है ॥

अव क्षपक महात्माका दशम गुणस्थानीय कृत्य वताते हैं—

ततोऽसौ स्थूल लोभस्य, सूक्ष्मत्वं प्रापयन् क्षणात् ।
आरोहति मुनिः सूक्ष्मसंपरायं गुणास्पदम् ॥७२॥

श्लोकार्थ—इसके वाद वह मुनि क्षणमात्रसे स्थूल लोभको सूक्ष्म करता हुआ सूक्ष्मसंपराय नामक गुणस्थानको आरोहण करता है।

व्याख्या—नववें गुणस्थानसे आगे वढ़ता हुआ क्षपक महात्मा संज्वलनके स्थूल लोभको क्षण मात्र कालसे सूक्ष्म करता हुआ सूक्ष्मसंपराय नामा दशवें गुणस्थानमें चढ़ता है। इस गुणस्थानमें रहा हुआ योगी पुरुषवेद तथा संज्वलनके चार कषायोंके वन्धका अभाव होनेसे सतरह कर्म प्रकृतियोंका वन्ध करता है। तीन वेद तथा संज्वलनके तीन कषायोंके उदयका अभाव होनेसे ६० साठ कर्म प्रकृतियोंको वेदता है, क्योंकि संज्वलनके लोभका अंश तो इस गुणस्थानमें उदय भावसे रहता ही है। संज्वलनकी माया प्रकृति पर्यन्त कर्म प्रकृतियोंको नीचेके अनिवृत्तिवादर नामा गुणस्थानमें नष्ट कर आया है और इस गुणस्थानमें आकर कोई कर्म प्रकृति नष्ट नहीं की है, इस लिए इस गुणस्थानमें भी एकसौ दो कर्म प्रकृतियोंको सत्तामें रखता है।

क्षपक योगी ग्यारहवें गुणस्थानमें प्रवेश नहीं करता ग्रन्थकार अव इसी विषयमें कहते हैं–

एकादशं गुणस्थानं, क्षपकस्य न संभवेत्।
किन्तु सूक्ष्मलोभांशान्, क्षपयन् द्वादशं व्रजेत् ॥७३॥

श्लोकार्थ–क्षपक योगीको एकादशवाँ गुणस्थान संभवित नहीं, किन्तु वह सूक्ष्म लोभांशोंको खपाता हुआ द्वादशवें गुण स्थानमें चला जाता है।

व्याख्या–ग्यारहवाँ गुणस्थान क्षपक महात्माको नहीं होता, क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थानमें नीचे पड़ने वाला ही महात्मा जाता है। जिस प्रकार एक उच्च मकान पर चढ़नेके लिए एक चौदह डंडों वाली सीढ़ी हो और क्रमसे उस सीढ़ीके चौदह डंडोंको आरोहण करते हुए मकान पर चढ़ जाते हैं, उसी प्रकार इस आत्मीय गुणावली रूप सीढ़ीमें आत्मीय गुण रूप चौदह डंडे हैं, इस आत्मीय गुणावली सीढ़ीमें लगे हुए आत्मीय चतुर्दश गुण रूप डंडोंको क्रमसे आरोहण करते हुए प्राणी मोक्ष रूप मकान पर चढ़ सकते हैं अन्यथा नहीं। जिस तरह पूर्वोक्त सीढ़ीका ग्यारहवाँ डंडा कमजोर हो और क्रमसे चढ़ने वाला मनुष्य उस पर पैर रखते ही नीचे गिर जाता है, वैसे ही पूर्वोक्त गुणावली सीढ़ीका ग्यारवाँ गुणस्थान रूप डंडा ऐसा ही कमजोर है कि चढ़ने वाला अवश्यमेव उस गुण स्थानसे नीचे गिरता है, इसलिए क्षपक महात्माको तो उसी भवमें मोक्ष प्राप्त करना है, वह ग्यारहवें गुणस्थानमें न जाकर वारहवें गुणस्थानमें जाता है। इतना और भी समझ लेना चाहिये कि प्रथमके गुणस्थानोंसे ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त क्रमसे उपशम श्रेणीवाला ही महात्मा चढ़ता है, इस लिए उपशम श्रेणीवाला ही महात्मा नीचे गिरता है। क्षपक महा-

त्माके लिए दशवें गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानको प्राप्त करनेमें पूर्वोक्त क्रमका नियम नहीं, वह दशवें गुणस्थानसे सूक्ष्म रहे हुए लोभके अंशोंको नष्ट करता हुआ सीधा बारहवें गुणस्थानमें चला जाता है। अब एक गाथा द्वारा शास्त्रकार क्षपक श्रेणीका ही समर्थन करते हैं—अणमिच्छमीस सम्म, अट नपुंसित्थिवेअ च्छक्कंच। पुंवेयंच खवेइ, कोहाईए असंजलणे ॥१॥ अर्थ—क्षपक श्रेणीवाला प्राणी मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंको इस क्रमसे खपाता है, प्रथम चार अनन्तानुबन्धि कषाय, फिर मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मोहनी, इन तीन मोहनियोंको क्षय करता है, इसके बाद अप्रत्याख्यानीय प्रत्याख्यानीय आठ कषाय, फिर नपुंसक वेद नष्ट करता है, इसके बाद स्त्रीवेदको क्षय करके हास्यादि षट्कका नाश करता है और फिर अपने पुरुष वेदको क्षय करके शेष रहे हुए संज्वलनके चार कषायोंको नष्ट करता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी २८ अट्ठाईस प्रकृतियोंको क्रमसे क्षय करके क्षीणमोह नामा बारहवें गुणस्थानमें जाता है।

क्षपक योगी शुक्ल ध्यानके दूसरे पायेको किस प्रकार आश्रय करता है, इस विषयमें लिखते हैं—

भूत्वा ऽथक्षीणमोहात्मा, वीतरागो महायतिः।
पूर्ववद्भावसंयुक्तो, द्वितीयं शुक्लमाश्रयेत् ॥७४॥

श्लोकार्थ—क्षीणमोह होकर वीतराग महायति क्षपक महात्मा पूर्ववत् भावयुक्त दूसरे शुक्ल ध्यानको आश्रय करता है।

व्याख्या—क्षपक महात्मा क्षीणमोह नामा बारहवें गुणस्थानमें जाकर मोहनीय कर्मको सर्वथा क्षय करके तथा रागद्वेषसे रहित होकर विशुद्धतर भाव सहित शुक्ल ध्यानके दूसरे पायेको आश्रित

करता है, याने शुक्ल ध्यानके दूसरे पायेका ध्यान करना प्रारंभ करता है।

अब इसी दूसरे शुक्ल ध्यानको नाम सहित कथन करते हैं-

अपृथत्त्वमविचारं, सवितर्कगुणान्वितम् ।
स ध्यायत्येकयोगेन, शुक्लध्यानं द्वितीयकम्॥७५॥

श्लोकार्थ-वह योगी पृथक्त्व रहित, विचार रहित और वितर्क गुण संयुक्त दूसरे शुक्ल ध्यानको एक योगसे ध्याता है।

व्याख्या-क्षीणमोह गुणस्थानमें रहनेवाला महात्मा पृथक्त्व, विचार रहित और वितर्क गुण सहित शुक्ल ध्यानके दूसरे पायेको एक योगसे ध्याता है। कहा भी है-एकं त्रियोगभाजामाद्यं स्यादपरमेकयोगानाम् । तनुयोगिनां तृतीयं, निर्योगानां चतुर्थं तु ॥ १ ॥ अर्थ-मन, वचन, काया, इन तीनोंके योगवाले योगीको शुक्ल ध्यानका प्रथम पाया होता है। मन वचन कायाके योगोंमेंसे किसी भी एक योगवाले योगीको शुक्ल ध्यानका दूसरा पाया होता है और केवल सूक्ष्म काय योगवाले योगी महात्माको शुक्ल ध्यानका तीसरा पाया होता है। शुक्ल ध्यानका चौथा पाया मन वचन कायाके योग रहित अयोगी महात्माको होता है।

अब अपृथक्त्व ध्यानका स्पष्ट तया वर्णन करते हैं-

निजात्मद्रव्यमेकं वा, पर्यायमथवा गुणम् ।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र, तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥७६॥

श्लोकार्थ-निजात्म द्रव्य अथवा एक गुण या पर्यायका जिसमें निश्चल तया चिन्तवन किया जाता है उसे पण्डित पुरुष एकत्व कहते हैं।

व्याख्या—जिस ध्यानमें अपने विशुद्धात्म द्रव्यका अथवा परमात्म द्रव्यके एक पर्यायका, या आत्माके अद्वितीय एक गुणका निश्चल तया एकाग्रतासे चिन्तवन किया जाता है, उस ध्यानको ध्यानज्ञ पुरुषोंने एकत्व ध्यान कहा है। अपृथक्त्व कहो चाहे एकत्व, एकत्व और अपृथक्त्वमें कुछ भेद नहीं, अपृथक्त्वको ही एकत्व कहते हैं।

अब अविचारत्व भेद बताते हैं—

यद् व्यञ्जनार्थयोगेषु, परावर्त्तविवर्जितम्।
चिन्तनं तदविचारं, स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ॥७७॥

श्लोकार्थ—जो व्यंजनार्थ योगोंके विषयमें परावर्त्त रहित चिन्तवन किया जाता है, उसे सद् ध्यानज्ञ पण्डित पुरुषोंने अविचार ध्यान कहा है।

व्याख्या—जिस ध्यानमें शब्द, अभिधेय और योगोंमें परिवर्तन नहीं होता, अर्थात् शब्दसे शब्दान्तरमें, अभिधेयसे अभिधेयान्तरमें और योगसे योगान्तरमें संक्रमण नहीं होता, केवल श्रुत ज्ञानके अनुसार ही जो चिन्तवन किया जाता है, उसे अविचार शुक्ल ध्यान कहते हैं। शुक्ल ध्यानका विषय बड़ा ही गहन है, आज कलके समयमें प्रस्तुत शुक्ल ध्यान फक्त शास्त्राम्नायसे ही सिद्ध है, परन्तु अनुभव सिद्ध नहीं। श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी भी फरमाते हैं कि—अनविच्छित्याम्नायः, समागतोस्येति कीर्त्यते स्माभिः। दुष्करमप्याधुनिकैः, शुक्लध्यानं यथाशास्त्रम् ॥ १ ॥ परंपरासे प्राप्त हुए शुक्ल ध्यानका आम्नाय विच्छेद न हो इस लिये हम शास्त्रानुसार इसका कीर्तन करते हैं, परन्तु आज कलके प्राणियोंको यह ध्यान बड़ा दुष्कर है। इसी

लिए आधुनिक समयमें प्रस्तुत शुक्ल ध्यानका अभाव होनेके कारण तदनुभवी योगीका भी अभाव है। अतः केवल शास्त्राम्नायसे ही इस ध्यानकी सिद्धि समझना।

अब सवितर्कत्व बताते हैं–

निजशुद्धात्मनिष्ठं हि, भावश्रुतावलम्बनात्।
चिन्तनं क्रियते यत्र, सवितर्कं तदुच्यते ॥ ७८ ॥

श्लोकार्थ–भाव श्रुतके आलंबनसे स्वकीय शुद्धात्मनिष्ठ जो चिन्तवन किया जाता है उसे सवितर्क ध्यान कहते हैं।

व्याख्या–जिस ध्यानमें अन्तःकरणमें सूक्ष्म जल्प रूप भाव आगम श्रुतके अवलंबन मात्रसे स्वकीय अति विशुद्धात्मामें विलीन होकर सूक्ष्म विचारणात्मक जो आत्म स्वरूपका चिन्तवन किया जाता है, उसे ही शास्त्रकार सवितर्क गुण युक्त दूसरा शुक्ल ध्यान कहते हैं।

पूर्वोक्त शुक्ल ध्यानसे योगीको जो प्राप्त होता है सो बताते हैं–

इत्येकत्वमविचारं, सवितर्कमुदाहृतम्।
तस्मिन् समरसीभावं, धत्ते स्वात्मानुभूतितः ॥७९॥

श्लोकार्थ–इस प्रकार एकत्व, अविचार और सवितर्क ध्यान कथन किया है, इस ध्यानमें ध्याता निजात्म अनुभूतिसे समरस भावको धारण करता है।

व्याख्या–पूर्वोक्त प्रकारसे एकत्व, अविचार तथा सवितर्क, इन तीनों विशेषणों सहित जो शुक्ल ध्यानका दूसरा पाया कथन किया है, इस शुक्ल ध्यानमें स्थिर रहा हुआ योगी महात्मा निरन्तर आत्म स्वरूपका चिन्तवन करनेके कारण अपने आत्मानु-

भवसे परम समतारसभावको धारण करता है, अर्थात् पूर्वोक्त ध्यानसे योगीको परमोत्कृष्ट समरस भाव प्राप्त होता है। कहा भी है-ध्यानात् समरसी भाव, स्तदेकी करणं मतं। आत्मा यद पृथक्त्वेन, लीयते परमात्मनि ॥ १ ॥ पूर्वोक्त शुक्ल ध्यानके दोनों पाये श्रुत ज्ञानावलंवन पूर्वक पूर्वगत श्रुतार्थ संवन्धसे पूर्वधारी छद्मस्थ योगीको ही प्राप्त होते हैं। अगले दो पाये शुक्ल-ध्यानके सर्व प्रकारके आलंवन रहित होते हैं, अतः वे केवल ज्ञान और केवल दर्शन धारण करने वाले योगी महात्माको होते हैं। श्रुत ज्ञानसे एक अर्थ ग्रहण करके उस अर्थसे फिर शब्दमें प्रवेश करना और शब्दसे फिर अर्थमें प्रवेश करना, एवं योगसे योगान्तरमें प्रवेश करना, अथवा जव एक योगवाला होकर योगी महात्मा उत्पाद, स्थिति तथा व्ययादि पर्यायोंमेंसे अमुक एक पर्यायका ध्यान या चिन्तवन करता है। तव उसे एकत्व अविचार शुक्ल ध्यान होता है।

अव क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तमें योगी महात्मा जो कुछ करता है सो कहते हैं—

इत्येतद्ध्यानयोगेन, प्लुष्यत्कर्मेन्धनोत्करः।
निद्राप्रचलयोर्नाशमुपान्त्ये कुरुते क्षणे ॥ ८० ॥

श्लोकार्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारके ध्यान योगसे योगी कर्मरूप इन्धनके समूहको दहन करता हुआ अन्तमें निद्रा और प्रचलाका नाश करता है।

व्याख्या—अनादि कालसे संचित किये हुए कर्मरूप इन्धनके समूहको पूर्वोक्त शुक्ल ध्यानानलके द्वारा भस्मावशेष करता हुआ क्षपक योगीश्वर वारहवें गुणस्थानके अवसानमें याने वारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयके पूर्व समयमें निद्रा और प्रचला, इन दो प्रकृतियोंको क्षय करता है।

अब बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें योगीका कृत्य बताते हैं-

अन्त्ये दृष्टिचतुष्कं च, दशकं ज्ञानविघ्नयोः।
क्षपयित्वा मुनिः क्षीणमोहः स्यात्केवलात्मकः ॥८१॥

श्लोकार्थ-अन्तिम समयमें चार दृष्टि तथा ज्ञानान्तरायकी दश प्रकृतियोंको क्षय करके क्षपक मुनि क्षीणमोह होकर केवलात्मक होता है।

व्याख्या-क्षपक योगी क्षीणमोह नामा बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें चक्षु दर्शनादि चार प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय कर्मकी, पाँच प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्मकी तथा पाँच ही प्रकृतियाँ अन्तराय कर्मकी, एवं चौदह कर्म प्रकृतियोंको क्षय करके क्षीणमोह होकर केवल ज्ञानात्मक होता है। तथा क्षीणमोह गुणस्थानमें रहा हुआ योगी चार दर्शनावरणीय, पाँच ज्ञानावरणीय, पाँच अन्तराय कर्म संबन्धि, उच्च गोत्र, तथा यश नाम, एवं सोलह कर्म प्रकृतियोंके बन्धका अभाव होनेके कारण केवल एक साता वेदनीयका बन्ध करता है, तथा संज्वलनके लोभ, ऋषभनाराच संहनन और नाराच संहनन, इन तीन कर्म प्रकृतियोंका उदय विच्छेद होनेसे सत्तावन कर्म प्रकृतियोंको वेदता है। लोभांशकी सत्ता नष्ट होनेके कारण इस गुणस्थानमें एकसौ एक कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता होती है॥

क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तमें जो कर्म प्रकृतियाँ शेष रहती हैं अब उनकी संख्या बताते हैं-

एवं च क्षीणमोहान्ता, त्रिषष्टिप्रकृतिस्थितिः।
पंचाशीति जरद्वस्त्र, प्रायाः शेषाः सयोगिनि ॥८२॥

श्लोकार्थ–एवं पूर्वोक्त प्रकारसे त्रेसठ प्रकृतियोंकी स्थिति क्षीणमोह तक अन्त हो गई, अब प्राय जीर्ण वस्त्रके समान पचासी प्रकृतियाँ सयोगि केवलि गुणस्थानमें शेष रहती हैं ॥

व्याख्या–चौथे गुणस्थानसे लेकर जिन त्रेसठ कर्म प्रकृतियोंको क्षपक महात्मा उत्तरोत्तर क्षय करता हुआ ऊपरके गुण स्थानोंमें चढ़ता था, उन कर्म प्रकृतियोंको वारहवें क्षीणमोह नामा गुणस्थानमें आकर सर्वथा नष्ट करता है। एवं त्रेसठ कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता वारहवें क्षीणमोह नामा गुणस्थानमें नष्ट होती है। जिस प्रकार बलते हुए अग्निमें इन्धन डालना बन्द किया जाय और पूर्वके डाले हुए इन्धनके भस्मावशेष होने पर वह अग्नि स्वयमेव ही शान्त हो जाता है, वैसे ही विषयोंसे निरूद्ध किया हुआ मन भी शान्त हो जाता है। फिर मनके शान्त होने पर शुक्ल ध्यानरूप अग्निके अत्यन्त प्रज्वलित होनेसे योगीन्द्र महात्मा अपने घाति कर्मोंको क्षणवारमें नष्ट करता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घाति कर्मोंको क्षय करके योगी महात्मा वारहवें गुणस्थानके अन्तमें अनन्त केवल ज्ञान और केवल दर्शनको प्राप्त करता है ॥

॥ बारहवाँ गुणस्थान समाप्त ॥

सयोगि केवलि गुणस्थानमें जैसे सम्यक्त्वादि भाव होते हैं उनका स्वरूप बताते हैं–

भावोऽत्र क्षायिकः शुद्धः, सम्यक्त्वं क्षायिकं परम् ।
क्षायिकं हि यथाख्यात–चारित्रं तस्य निश्चितम् ॥८३॥

श्लोकार्थ–इस गुणस्थानमें योगीको क्षायिक शुद्ध भाव, क्षायिक शुद्ध सम्यक्त्व और क्षायिक ही यथाख्यात चारित्र होता है ॥

व्याख्या—सयोगि गुणस्थानमें सयोगी केवली भगवानको अति विशुद्ध क्षायिक भाव तथा निश्चय तया क्षायिक ही परम विशुद्ध सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र होता है। अर्थात् औपशमिक और क्षायोपशमिक भावकी अविद्यमानता होनेसे क्षायिक ही भावकी विद्यमानता होती है और दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीयके क्षय होनेके कारण सम्यक्त्व और चारित्र भी क्षायिक ही होता है॥

अब सयोगी महात्माका ज्ञान बल बताते हैं—

चराचरमिदं विश्वं, हस्तस्थामलकोपमम्।
प्रत्यक्षं भासते तस्य, केवलज्ञानभास्वतः॥ ८४॥

श्लोकार्थ—जैसे हस्तगत आँवला साक्षात्कार तया देख पड़ता है वैसे ही उस योगीको केवल ज्ञानरूप सूर्यसे चराचर जगत प्रत्यक्ष तया भासित होता है।

व्याख्या—जिस प्रकार हाथमें लिया हुआ आँवलेका फल चारों तरफसे देख पड़ता है, उसी प्रकार केवल ज्ञानरूप सूर्यसे पूर्वोक्त केवल ज्ञानी महात्माको तीनों जगतके चराचर पदार्थ साक्षात्कार तया देख पड़ते हैं। केवल ज्ञानको शास्त्रकारोंने सूर्यकी उपमा दी है, वह केवल व्यवहारसे ही समझना, तथा सूर्यसे बढ़कर संसार भरमें अन्य कोई वस्तु प्रकाशक नहीं इसीसे केवल ज्ञानको सूर्यकी उपमा दी गई है, अन्यथा सूर्य तो जहाँ पर उसकी किरणें पड़ती हैं वहाँ पर ही वह प्रकाश करके उस स्थानमें रही हुई वस्तुओंका बोध करा सकता है, किन्तु केवल ज्ञानरूप सूर्य संसारके गुप्तसे गुप्त समस्त पदार्थोंका बोध करता है, उन विश्वके समस्त भावोंको साक्षात्कार तया दिखाता है।

इसी कारण केवल ज्ञानकी उपमाके योग्य कोई वस्तु नहीं, वह सर्वथा उपमातीत निरावरण है। कहा भी है–चन्द्रादित्यग्रहाणां प्रभा प्रकाशयंति परिमितं क्षेत्रम्। कैवल्यज्ञानलाभो, लोकालोकं प्रकाशयति ॥ १ ॥ अर्थ–चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारा वगैरहकी प्रभा–कान्ति परिमित–परिमाणोपेत ही क्षेत्रको प्रकाशित करती है, परन्तु कैवल्य ज्ञान तो अनन्त लोकालोक क्षेत्रको प्रकाशित करता है।

जिसने प्रथम तीसरे भवमें तीर्थंकर नाम कर्म बाँध लिया है उस केवली भगवानके लिए शास्त्रकार विशेषता बताते हैं–

विशेषात्तीर्थकृत्कर्म, येनास्त्यर्जितमूर्जितम्।
तत्कर्मोदयतोऽत्रासौ, स्याज्जिनेन्द्रो जगत्पतिः ॥८५॥

श्लोकार्थ–विशेषतासे जिसने तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया हुआ है, वह उस कर्मके उदयसे यहाँ पर जगत्पति जिनेन्द्र होता है ॥

व्याख्या–तीर्थंकर भगवानकी भक्ति प्रमुख, वीस स्थानक विशेषकी आराधना करनेसे या श्री संघकी भक्ति करनेसे अथवा अन्य कोई तथा प्रकारका शुभ कार्य करनेसे जिस प्राणीने तीसरे भव पहले तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया हुआ है, वह प्राणी उस तीर्थंकर नाम कर्मके उदयसे इस सयोगि केवलि गुणस्थानमें रहकर चौंतीस अतिशयों युक्त जिनेन्द्र पदवीको भोगता है। जिसने पूर्वमें तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन नहीं किया और क्षपक श्रेणी द्वारा केवल ज्ञानको प्राप्त किया है, उसे सामान्य केवली कहते हैं, या जिन कहते हैं और जिसने तीर्थंकर नाम कर्मोदयसे तीर्थकृत्पदवीको प्राप्त करके केवल ज्ञान प्राप्त किया है, उसे जिनेन्द्र कहते हैं। अर्थात् तीर्थंकर भगवानको जिनेन्द्र कहते हैं।

जिन जिन पदोंकी आराधना करनेसे प्राणी तीर्थंकर नाम कर्म बाँधता है अब उन्हीं पदोंका प्रसंगसे तीन श्लोकों द्वारा नाम बताते हैं—अर्हं, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहु श्रुते, तपस्विषु। वात्सल्यमेतेषु अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगौ च ॥ १ ॥ दर्शनविनयौ आवश्यकानि च शीलव्रते निरतिचारता। क्षण लव तपस्त्यागा; वैयावृत्त्यं समाधिश्च ॥ २ ॥ अपूर्वज्ञानग्रहणं, श्रुतभक्तिः प्रवचने प्रभावना। एतैः कारणैस्तीर्थंकरत्वं लभते जीवः ॥ ३ ॥ इन तीन श्लोकोंमें बताये हुए पदोंकी आराधना करनेसे प्राणी तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन करता है।

अब तीर्थंकर भगवानका महिमा कहते हैं–

स सर्वातिशयैर्युक्तः, सर्वामरनरनतः।
चिरं विजयते सर्वोत्तमं तीर्थं प्रवर्तयन् ॥ ८६ ॥

श्लोकार्थ–सर्वातिशयोंसे युक्त तथा सर्व देवता और मनुष्योंद्वारा नमस्कृत तीर्थंकर प्रभु सर्वोत्तम तीर्थको प्रवर्ताते हुए चिरकाल तक विजय प्राप्त करते हैं ॥

व्याख्या–तीर्थंकर प्रभुके चौंतीस अतिशय होते हैं, अर्थात् जो प्राणी तीर्थंकर पद प्राप्त करता है, तीन जगतके सर्व प्राणियोंसे उसका सर्वोत्तम पुण्योत्कर्ष होता है, इसीसे पूर्वोक्त चौंतीस अतिशय नामक उनके चौंतीस प्रभाव विशेष होते हैं। जिसमें चार प्रभाव या अतिशय उनके जन्मसे ही होते ह और बाकीके केवल ज्ञानोत्पत्तिके बाद देवता लोगोंके किये हुए होते हैं। इन पूर्वोक्त अतिशयोंका संक्षेपसे स्वरूप इस प्रकार समझना, १ तीर्थंकर प्रभुका श्वासोश्वास जन्मसे लेकर कमल–परिमलके समान सुगन्धमय होता है। २ तीर्थंकर भगवानके शरीरमें जो रुधिर होता

है वह गायके दूधके समान होता है। ३ तीर्थंकर प्रभुके शरीरमें कभी भी पसीना नहीं आता। ४ तीर्थंकर भगवानको आहार करते तथा निहार करते (दिशा जाते) अन्य कोई छद्मस्थ प्राणी नहीं देख सकता। ये चार अतिशय तो तीर्थंकर प्रभुके जन्मसे ही होते हैं, ग्यारह अतिशय चार घाति कर्मोंके नष्ट होनें पर होते हैं। ५ तीर्थंकर महात्माको जव केवल ज्ञानोत्पन्न होता है तव एक योजन प्रमाण भूमिमें देवता लोग रूप्य, सुवर्ण और रत्नमय समवसरणकी रचना करते हैं, उस एक योजन प्रमाणवाले समवसरणमें कोटाकोटी मनुष्यों, देवताओं तथा तिर्यंचोंका समावेश हो जाता है। ६ तीर्थंकर प्रभु समवसरणमें विराजमान होकर अर्ध मागधी भाषामें धर्मदेशना देते हैं, किन्तु मनुष्य, देवता तथा तिर्यंच सब प्राणी अपनी अपनी भाषामें समझ लेते हैं और उस वाणीका एक योजन प्रमाण विस्तार होता है। ७ सूर्यकी किरणोंको भी फीकी करनेवाला और चारों दिशाओंको प्रकाशित करनेवाला तीर्थंकर प्रभुके मस्तकके पीछे एक भामंडल होता है, भगवानका शरीर अतीव कान्तिमय होता है इसलिए देवता लोग उनके शरीरकी कान्तिको कुछ संकुचित करके उनके पृष्ठ भागमें भामंडल तया स्थित कर देते हैं। ८ जहाँ पर तीर्थंकर प्रभुका विहार होता है वहाँ पर सवासौ योजन पर्यन्त चारों तरफ मारी प्रभृति रोगोत्पत्ति नहीं होती। ९ तीर्थंकर भगवानके समवसरणमें बैठे हुए प्राणियोंके हृदयमें से जाति वैर भी नष्ट हो जाता है। १० जिस देशमें तीर्थंकर भगवानका विचरना होता है उस देशमें ईति याने धान्योत्पत्तिको उपद्रव करनेवाली टीढ़ी वगैरह क्षुद्र जन्तुओंकी उत्पत्ति नहीं होती। ११ जिस देशमें तीर्थंकर प्रभु विराजमान होते हैं, उस देशमें औत्पातिक रोग नहीं होता।

१२ तीर्थंकर प्रभुके विराजमान होते हुए उस देशमें अतिवृष्टि नहीं होती, अर्थात् जिससे जनपदको हानि पहुँचे वैसी वृष्टि नहीं होती। १३ प्रभुकी हयातीमें जनपदको हानि कारक सर्वथा वृष्टिका अभाव नहीं होता। १४ तीर्थंकर प्रभुके होते हुए देशमें दुर्भिक्ष नहीं पड़ता। १५ तीर्थंकर भगवानकी हयातीमें स्वराष्ट्र संबन्धि किसी प्रकारका भय नहीं होता। १६ आकाशमें तीर्थंकरके आगे देवकृत धर्मप्रकाशक एक धर्मचक्र होता है। १७ तीर्थंकर प्रभुके आगे आकाशमें चामर होते हैं। १८ तीर्थंकर भगवानको बैठनेके लिए स्फटिक रत्नमय अति उज्वल भूमिसे अधर देवकृत एक सिंहासन होता है। १९ तीर्थंकर प्रभुके ऊपर आकाशमें अधर देवकृत तीन छत्र विराजमान होते हैं। २० तीर्थंकर प्रभुके आगे सहस्र योजन ऊँचा रत्नमय एक इन्द्रध्वज रहता है। २१ तीर्थंकर भगवानको जबसे केवल ज्ञान प्राप्त होता है तबसे वे जमीन पर पैर रखकर नहीं विचरते, किन्तु देवताओंके बनाये हुए सुवर्णके नव कमलों पर पैर रखकर विचरते हैं। २२ जिस समवसरणमें प्रभु देशना देते हैं, उस समवसरणके रत्न, सुवर्ण तथा रूप्यमय तीन प्राकार (कोट) होते हैं। २३ पूर्वोक्त समवसरणके चार दरवाजे होते हैं जिसमें एक दरवाजेकी तरफ तो तीर्थंकर प्रभु मुख करके बैठते हैं और तीन दरवाजों तरफ देवकृत प्रभुके प्रतिबिंब होते हैं, उनसे उस तरफ बैठनेवाले देव मनुष्योंको साक्षात् प्रभु ही भासित होते हैं और उन तीन मुख द्वारा भी प्रभुकी वाणीका विस्तार होता है, इस अतिशयको लेकर ही तीर्थंकर भगवान चतुरंग या चतुर्मुख कहे जाते हैं। २४ केवल ज्ञान प्राप्त किये बाद तीर्थंकर भगवानके समीप सदैव चैत्य नामक अशोक वृक्ष होता है। २५ जिस मा-

र्गमें तीर्थंकर भगवान विचरते हैं उस मार्गमें सीधे पड़े हुए भी काँटे ऊँधे हो जाते हैं। २६ तीर्थंकर प्रभु जब विहार करते हैं तब मार्गके वृक्ष भी उनकी ओर नम जाते हैं। २७ प्रभुके आगे आकाशमें भुवन व्यापी देवदुन्दुभिका नाद होता है। २८ प्रभुके होते हुए पवन भी शरीरको सुखस्पर्शि चलता है। २९ जिस जगह भगवान विराजते हैं उस प्रदेशवर्ती पक्षीगण भी आकाशमें भगवानको प्रदक्षिणा देते हुए गति करते हैं। ३० जहाँ पर तीर्थंकर प्रभु विराजमान होते हैं वहाँ पर सुगन्धमय जलकी वृष्टि होती है। ३१ तीर्थंकर भगवानके समवसरणमें जल स्थलके पैदा हुए सरस सुगन्धिवाले तथा पंच वर्णके पुष्पोंकी जानु प्रमाण वृष्टि होती है। ३२ तीर्थंकर प्रभुके सिरके केश तथा हाथों पगोंके नख जितने सुशोभित दीखें उतने ही रहते हैं अधिक नहीं बढ़ते। ३३ तीर्थंकर प्रभुके पास चारनिकायके देवताओंमेंसे कमसे कम एक करोड़ देवता रहते हैं अर्थात् एक करोड़ देवता तो प्रभुकी सेवामें उपस्थित रहते हैं, यह सब केवल ज्ञानावस्थाका स्वरूप समझना। अन्यथा छद्मस्थावस्थामें तो प्रभु एकले भी विचरते हैं। ३४ प्रभुकी हयातीमें वसन्तादि छह ही ऋतुओं संबन्धि पुष्पादि सामग्री सदैव सुखकारी होती है। इस प्रकार तीर्थंकर भगवानके चौंतीस अतिशय होते हैं। पूर्वोक्त चौंतीस अतिशयोंसे युक्त और सर्व सुरासुरेन्द्रोंसे पूजित तीर्थंकर भगवान सर्वोत्तम श्री जिनशासनकी प्रवृत्ति कराते हुए उत्कृष्ट देशोना पूर्व कोटी पर्यन्त पृथिवीतल पर विचरते हैं॥

पूर्वोक्त तीर्थंकर नाम कर्मको तीर्थंकर भगवान जिस तरह भोगते हैं अब उसका वर्णन करते हैं—

वेद्यते तीर्थकृत्कर्म, तेन सद्देशनादिभिः ।
भूतले भव्यजीवानां, प्रतिबोधादि कुर्वता ॥८७॥

श्लोकार्थ—तीर्थंकर प्रभु सद्धर्म देशना द्वारा भव्य जीवोंको प्रतिबोध करते हुए तीर्थंकर नाम कर्मको वेदते हैं ।

व्याख्या—तीर्थंकर भगवान भूमंडल पर विचरते हुए तत्वोपदेश देकर भव्य जीवोंको प्रतिबोध करते हैं । कितने एक लघु कर्मी भव्य जीवोंको सर्वविरति और कितने एक भव्य प्राणियोंको देश विरति ग्रहण कराते हुए पूर्वोक्त तीर्थकृत्कर्मको भोगते हैं ॥

केवली भगवानकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

उत्कर्षतोऽष्टवर्षोनं, पूर्वकोटि प्रमाणकम् ।
कालं यावन्महीपीठे, केवली विहरत्यलम् ॥८८॥

श्लोकार्थ—उत्कृष्टतासे आठ वर्ष कम यावत्पूर्वकोटी काल प्रमाण केवली भगवान पृथ्वीतल पर विचरते हैं ॥

व्याख्या—केवल ज्ञानी महात्मा केवल ज्ञानावस्थामें आठ वर्ष कम पूर्व करोड़ वर्ष पर्यन्त उत्कृष्ट स्थितिसे पृथिवी तल पर विचरते हैं । यहाँ पर यह सामान्य केवली महात्माकी उत्कृष्ट स्थिति बताई है, क्योंकि तीर्थंकर भगवान तो सदैव मनुष्यकी मध्यम आयुवाले होते हैं और अनेकानेक देव देवेन्द्रोंसे संसेवित तथा आठ प्रातिहार्योंकी विभूतिसे विभूषित होकर सदा काल देवकृत सुवर्णके कमलों पर पैर रख कर विचरते हैं ॥

अब केवली समुद्घातका स्वरूप लिखते हैं—

चेदायुषः स्थितिर्न्यूना, सकाशाद्वेद्यकर्मणः ।
तदा तत्तुल्यतां कर्तुं समुद्घातं करोत्यसौ ॥८९॥

श्लोकार्थ–यदि वेदनीय कर्मसे आयु कर्मकी स्थिति कम हो तो उसे समान करनेके लिए केवली प्रभु समुद्घात करता है॥

व्याख्या–जिस केवल ज्ञानी महात्माकी वेदनीय कर्मसे आयुकर्मकी स्थिति कम होती है, वह केवली महात्मा आयुकर्मके साथ वेदनीय कर्मकी समानता करनेके लिए जो प्रयत्न विशेष करता है, उसे केवली समुद्घात कहते हैं। समुद्घात, यह तीन शब्दोंसे समुदित एक वाक्य बना है, सम् याने समंतात्–चारों तरफसे, उत् याने प्राबल्येन–प्रकर्षतासे और घातका अर्थ है नष्ट करना, सो चारों तरफसे प्रबलतापूर्वक आत्मप्रदेशोंके साथ लगे हुए कर्म वर्गणाके पुद्गलोंका नाश करना इसे समुद्घात कहते हैं। समुद्घात सात प्रकारकी होती है। वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मरणान्तिक समुद्घात, वैक्रिय समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात। इस सात प्रकारके समुद्घातसे प्राणी अपने पूर्व संचित किये कर्म वर्गणाके दलियोंको नष्ट करता है। केवली समुद्घातमें केवल ज्ञानी महात्मा आयु कर्मसे अधिक अपने वेदनीय कर्मके दलियोंको नष्ट करनेके लिए अपने असंख्य आत्मप्रदेशोंको सर्व लोकाकाशमें फैलाता है॥

सर्वलोकमें केवली प्रभु जिस प्रकार आत्मप्रदेशोंका प्रक्षेपण करता है, अब शास्त्रकार उसीका स्वरूप लिखते हैं–

दण्डत्वं च कपाटत्वं, मन्थानत्वं च पूरणम्।
कुरुते सर्वलोकस्य, चतुर्भिः समयैरसौ॥ ९०॥

श्लोकार्थ–दण्डत्व, कपाटत्व, मंथानत्व और पूरण, इन चार संज्ञाओंसे केवली प्रभु चार समयोंमें सर्व लोकको पूरित करता है॥

व्याख्या–केवली भगवान जिस वक्त वेदनीय कर्मके दलियोंको आयु कर्मके समान करनेके लिए समुद्घात करता है उस वक्त वह प्रथम समयमें अपने असंख्य आत्म प्रदेशोंको ऊँचे नीचे लोकाकाश पर्यन्त दण्डाकारमें विस्तृत करता है। दूसरे समयमें पूर्वापर दिशाओंमें आत्म प्रदेशोंको लोक पर्यन्त ही कपाटकी आकृतिमें विस्तृत करता है। तीसरे समयमें दक्षिणोत्तर दिशाओंमें लोक पर्यन्त आत्म प्रदेशोंको फैलाता है। उस समय केवल ज्ञानीके ज्ञानसे उन आत्म प्रदेशोंकी आकृति दधि विलोडनेके मंथानके समान होती है। चौथे समयमें मंथानके समान आकृति वाले आत्म प्रदेशोंमें जो बीचके आँतरे–विभाग खाली रहे थे उन्हें आत्म प्रदेशोंसे परिपूर्ण करता है। लोकाकाशके प्रदेश भी असंख्य हैं और आत्माके प्रदेश भी असंख्य हैं, अतः चतुर्थ समयमें लोकाकाशके अन्दर कोई भी ऐसा आकाश प्रदेश नहीं रहता कि जिसे केवली भगवानके आत्मप्रदेशोंने स्पर्श न किया हो, अर्थात् चौथे समयमें केवली प्रभु सर्वलोक व्यापी होता है।

अब केवली प्रभु सर्वलोक व्यापि आत्मप्रदेशोंको किस क्रमसे पीछे संहरता है सो कहते हैं–

एवमात्मप्रदेशानां, प्रसारणविधानतः।
कर्मलेशान् समीकृत्योत्क्रमात्तस्मान्निवर्त्तते ॥९१॥

श्लोकार्थ–इस प्रकार आत्मप्रदेशोंको विस्तीर्ण करनेके विधिसे कर्म लेशोंको समान करके उत्क्रमसे पीछे निवर्तता है॥

व्याख्या–पूर्वोक्त प्रकारसे केवल ज्ञानी महात्मा अपने असंख्य आत्मप्रदेशोंको चतुर्दश राजलोकमें फैला कर और लोकमें रहे हुए सर्व कर्म परमाणुओंको आत्मप्रदेशों द्वारा स्पर्श करके वेदनीय कर्मके दलियोंको आयु कर्मके समान करता है।

आयु और वेदनीयकर्मके कर्मपरमाणुओंको समान करके फिर आत्मप्रदेशोंको पीछे संहरता है। अर्थात् पूर्वोक्त विधिसे चार समय मात्र कालमें अपने आत्मप्रदेशोंसे समस्त राजलोकको स्पर्श करके फिर क्रमसे आत्मप्रदेशोंको अपने शरीरके अन्दर आकर्षित करता है, पहले चार समयोंमें सर्वलोकको आत्मप्रदेशोंसे पूरित किया था अब पाँचवें समयमें मंथानाकृतिके आँतरोंको पीछे संहरता है, छठे समयमें उत्तर दक्षिणके, जिससे मंथानकी आकृति बनी थी, उन आत्मप्रदेशोंका संहरण करता है। सातवें समयमें पूर्वापर दिशाओंके, जिससे कपाटकी आकृति बनी थी, उन आत्मप्रदेशोंका संहरण करता है। आठवें समयमें दण्डाकार आत्मप्रदेशोंका उपसंहार करता है, आठवें समयमें अपने तमाम आत्मप्रदेशोंको आकर्षित करके केवली भगवान स्वभावस्थ होजाता है। महोपाध्याय श्रीमान् यशोविजयजी महाराजने भी फरमाया है कि—दण्डं प्रथमे समये, कपाटमथचोत्तरे तथा समये, मन्थानमथतृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥ १ ॥ संहरति पंचमे त्वन्तराणि मन्थानमथपुनः षष्ठे। सप्तमके कपाटं, संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ २ ॥

केवली प्रभु समुद्घात करता हुआ जिस प्रकार योगवान् और आहारक होता है अब सो बताते हैं—

समुद्घातस्य तस्माद्ये, चाष्टमे समये मुनिः।
औदारिकाङ्गयोगः स्यात्, द्विषट् सप्तमकेषु तु ॥९२॥
मिश्रौदारिकयोगी च, तृतीयाद्येषु तु त्रिषु।
समयष्वेककर्माङ्ग—धरोनाहारकश्च सः ॥ ९३ ॥

॥ युग्मम् ॥

श्लोकार्थ–समुद्घातके प्रथम समय और आठवें समयमें मुनि औदारिक शरीरके योगवाला होता है, तथा दूसरे, छठे और सातवें समयमें मिश्रौदारिक काययोग वाला होता है, तृतीयादि तीन समयोंमें केवल एक कार्मण शरीरका ही योग होता है और उन्हीं तीन समयोंमें अनाहारी होता है ॥

व्याख्या–केवली प्रभु समुद्घात करते वक्त पहले और अन्तिम समयकालमें औदारिक काययोगवान होता है, अर्थात् औदारिक शरीरके साथ उसके आत्मप्रदेशोंका संबन्ध रहता है। दूसरे, छठे और सातवें समयमें पूर्वोक्त महात्मा मिश्रौदारिक कायके साथ संयोग रखता है, याने कार्मण शरीरके साथ औदारिक शरीरकी मिश्रता रहती है और उसके साथ आत्मप्रदेशोंका संयोग होता है, इसीसे उसे मिश्रौदारिक योग कहते हैं। तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें केवल ज्ञानी महात्माके आत्मप्रदेशोंके साथ केवल कार्मण शरीरका ही संबन्ध होता है, अतः इन पूर्वोक्त तीन समयोंमें केवली प्रभु अनाहारी होता है। कहा भी है–औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः। मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ १ ॥ कार्मणशरीरयोक्ता चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । समयत्रये च तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥ २ ॥

सब ही केवल ज्ञानी महात्मा समुद्घात नहीं करते, किन्तु जो करते हैं उनका स्वरूप लिखते हैं–

यः षण्मासाधिकायुष्को, लभते केवलोद्गमम् ।
करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥९४॥

श्लोकार्थ–जो महात्मा छः मास आयु शेष रहने पर के-

वल ज्ञान प्राप्त करता है, वह समुद्घात करता है, तथा अन्य केवली करें और न भी करें ॥

व्याख्या—जो महात्मा छः महीने शेष आयु रहने पर केवल ज्ञानको प्राप्त करता है, वह केवल ज्ञानी अवश्य ही समुद्घात करता है, क्योंकि उसके आयु कर्मके दलियोंसे वेदनीय कर्मके दलिये अधिक होते हैं। छः मासके अन्दर आयुवाले केवल ज्ञानियोंको कोई नियम नहीं कि वे जरूर समुद्घात करें ही। शास्त्रमें फरमाया है कि—षण्मास्यायुषि शेषे उत्पन्नं येषां केवलज्ञानम्। ते नियमात्समुद्घातिनः शेषाः समुद्घाते भक्तव्याः ॥ १ ॥

केवली प्रभु समुद्घातसे निवृत्त होकर जो करता है सो कहते हैं—

समुद्घातान्निवृत्तोऽसौ, मनोवाक्काययोगवान्।
ध्यायेद्योगनिरोधार्थं, शुक्लध्यानं तृतीयकम् ॥९५॥

श्लोकार्थ—समुद्घातसे निवृत्त होकर केवली प्रभु मन वचन कायके योग सहित योग निरोध करनेके लिए तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है ॥

व्याख्या—समुद्घातसे निवृत्त होकर मन वचन कायके योग वाला केवल ज्ञानी महात्मा योग निरोध करनेके लिए याने योगको रोकनेके लिए तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है ॥

अब तीसरे ही शुक्ल ध्यानका स्वरूप लिखते हैं—

आत्मस्यन्दात्मिका सूक्ष्मा, क्रिया यत्रानिवृत्तिका।
तत्तृतीयं भवेच्छुक्लं, सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिकम् ॥ ९६ ॥

श्लोकार्थ—जिस ध्यानमें अनिवृत्तिक आत्मस्यन्दात्मिक

सूक्ष्मक्रिया है, उसे सूक्ष्मक्रिया निवृत्तिक तीसरा शुक्ल ध्यान कहते हैं ॥

व्याख्या–जिस ध्यानमें अनिवृत्तिक आत्मस्यन्दात्मिक सूक्ष्म क्रिया होती है वह सूक्ष्म क्रिया निवृत्तिक नामा शुक्ल ध्यानका तीसरा पाया होता है। केवली भगवान जब शुक्ल ध्यानके तीसरे पायेको ध्याता है, उस वक्त आत्मामें जो चलनरूप क्रिया है उसे वह सूक्ष्म करता है, क्योंकि आत्मस्यन्दनरूप जो क्रिया है वह सूक्ष्म होनेके कारण अनिवृत्तिक होती है, अर्थात् वह क्रिया सूक्ष्मताको छोड़कर पुनः स्थूलताको प्राप्त नहीं होती।

केवली प्रभु मन वचन कायके योगको किस प्रकार सूक्ष्म करता है सो चार श्लोकों द्वारा बताते हैं–

बादरे काययोगेऽस्मिन्, स्थितिं कृत्वा स्वभावतः।
सूक्ष्मी करोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥९७॥
त्यक्त्वा स्थूलं वपुर्योगं, सूक्ष्मवाक्चित्तयोः स्थितिम्।
कृत्वा नयति सूक्ष्मत्वं, काययोगं तु बादरम् ॥ ९८ ॥
सुसूक्ष्मकाययोगेऽथ, स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणम्।
निग्रहं कुरुते सद्यः, सूक्ष्मवाक्चित्तयोगयोः ॥९९॥
ततः सूक्ष्मे वपुर्योगे, स्थितिं कृत्वा क्षणं हि सः।
सूक्ष्माक्रियं निजात्मानं, चिद्रूपं विन्दति स्वयम् १००

श्लोकार्थ–इस बादर काययोगमें स्वभावसे स्थिति करके बादर वचनयोग और चित्तयोगको सूक्ष्म करता है। स्थूल शरीर योगको छोड़के सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म चित्तयोगमें स्थिति करके बादर काय योगको सूक्ष्म करता है, फिर सूक्ष्म काय योगमें

क्षणमात्र स्थिति करके सूक्ष्म वचन योग और सूक्ष्म चित्तयोगको निग्रह करता है। इसके बाद सूक्ष्म काययोगमें केवली प्रभु क्षण मात्र स्थिति करके सूक्ष्मक्रिय चिद्रूप अपनी आत्माका स्वयं अनुभव करता है॥

व्याख्या–सूक्ष्मक्रियअनिवृत्ति नामक तीसरे शुक्ल ध्यानका ध्याता केवली प्रभु अचिन्त्य आत्मवीर्यकी शक्तिसे पूर्वोक्त इस बादर काययोगमें स्वभावसे ही स्थिति करके स्थूल वचनयोग और स्थूल मनोयोगको सूक्ष्म करता है, अर्थात् मन वचनके स्थूल व्यापारको सूक्ष्म करता है। इसके बाद बादर शरीर व्यापारको छोड़के और पूर्वोक्त सूक्ष्म मनो वचनके व्यापारमें स्थिति करके बादर कायव्यापारको सूक्ष्म करता है। फिर उस सूक्ष्म कायव्यापारमें क्षणमात्र काल ठहरके तत्काल ही प्रथम सूक्ष्म किये हुए मनो वचनके व्यापारको सर्वथा जड़ मूलसे क्षय करता है। मन वचनके व्यापारको सर्वथा नष्ट करके फिर सूक्ष्म काय व्यापारमें क्षणमात्र ठरहके सूक्ष्स क्रियचिद्रूप अपने आत्म स्वरूपको स्वयं अपनी आत्मा द्वारा ही अनुभव करता है॥

पूर्वोक्त जो सूक्ष्म शरीरको स्थिर करनेके लिए प्रयत्न विशेष किया जाता है वही केवल ज्ञानी महात्माका ध्यान कहा जाता है॥

अब इसी बातको स्पष्ट करते हैं–

छद्मस्थस्य यथा ध्यानं, मनसः स्थैर्यमुच्यते।
तथैव वपुषः स्थैर्यं, ध्यानं केवलिनो भवेत्॥ १०१॥

श्लोकार्थ–जिस प्रकार ध्यान छद्मस्थके मनको स्थिर करने वाला कहा जाता है वैसे ही केवली प्रभुके शरीरको स्थिर करने वाला होता है॥

व्याख्या-योगी महात्माको जब तक केवल ज्ञानकी प्राप्ति न हो तब तक उसे छद्मस्थ योगी कहते हैं । उस छद्मस्थ योगीके मनको स्थिर करनेमें जिस प्रकार ध्यान कारण भूत होता है उसी प्रकार वह ध्यान केवली भगवानके कायचापल्यको स्थिर करनेमें कारण भूत होता है ॥

शैलेशीकरण करनेवाला सूक्ष्म काययोगवान केवली जो करता है सो कहते हैं-

शैलेशीकरणारम्भी, वपुर्योगे स सूक्ष्मके ।
तिष्ठन्नूर्ध्वास्पदं शीघ्रं, योगातीतं यियासति ॥१०२॥

श्लोकार्थ-शैलेशीकरणको प्रारंभ करनेवाला योगी सूक्ष्म काययोगमें रहा हुआ योगातीत गुणस्थानमें शीघ्रतासे जानेकी इच्छा करता है ॥

व्याख्या-शैलेश नाम मेरु पर्वतका है अत एव मन वचन कायके व्यापारको नष्ट करके अपनी आत्माको मेरु पर्वतके समान निश्चल करनेको ही शैलेशी करण कहते हैं । अकारादि पाँच ह्रस्वाक्षर उच्चारण मात्र काल आयुवाला ही केवली भगवान शैलेशीकरण करता है और उसी समय वह शुक्ल ध्यानके चतुर्थ पायेको ध्यानका विषय करता है, अत एव चतुर्थ शुक्ल ध्यान परिणतिरूप जो शैलेशीकरण है, उसे प्रारंभ करनेवाला सयोगी केवली प्रभु सूक्ष्म काययोगमें रहा हुआ योगातीत याने अयोगि गुणस्थानको शीघ्रतासे प्राप्त करनेकी इच्छा करता है ॥

अब सयोगि गुणस्थानके अन्त समय केवली प्रभु क्या करता है सो कहते हैं-

अस्यान्त्येऽङ्गोदयच्छेदात्, स्वप्रदेशघनत्वतः ।
करोत्यन्त्याङ्गसंस्थान-त्रिभागोनावगाहनम् ॥१०३॥

श्लोकार्थ–सयोगि गुणस्थानके अन्तमें अंग विच्छेद होनेके कारण स्वप्रदेशघनत्वसे अन्तिम अंग संस्थानसे तीन भाग कम अवगाहना करता है ॥

व्याख्या–पूर्वोक्त सयोगि केवलि नामक तेरहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, अस्थिरनाम, अशुभनाम, शुभविहायो गति, अशुभविहायो गति, प्रत्येकनाम, स्थिरनाम, शुभनाम, तथा पूर्वोक्त छः संस्थान, अगुरुलघु, उपघातनाम, पराघातनाम, श्वासोश्वास, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, निर्माणनाम, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, प्रथम संहनन, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, एवं सता वेदनीय द्विकमेंसे एक प्रकृति, इस प्रकार इन तीस कर्म प्रकृतियोंका उदय विच्छेद होता है। यहाँ पर अंगोपांगोंका उदय न होनेसे चरम अंगोपांग गत नासिकादिके छिद्रोंको पूर्ण कर देनेसे केवली प्रभु आत्म प्रदेशोंका घनत्व करता है, अत एव अन्तिम अंग संस्थानकी अवगाहनासे तृतीय भाग कम अवगाहना करता है। सयोगि गुणस्थानमें रहा हुआ उसके उपान्त्य समय पर्यन्त केवली प्रभु एकविध बन्धक होता है। ज्ञानान्तराय तथा दर्शन चतुष्कके उदयका अभाव होनेसे बैतालीस कर्म प्रकृतियोंको वेदता है। तथा निद्रा प्रचला, ज्ञानान्तराय दशक याने पाँच प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीयकी तथा पाँच ही प्रकृतियाँ अन्तरायकी और चार प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय संबन्धि, एवं सोलह प्रकृतियोंकी सत्ता नष्ट होनेसे पचासी कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रखता है॥ पूर्वोक्त प्रकारसे सयोगि गुणस्थानको समाप्त करके केवली प्रभु अयोगि गुणस्थानको प्राप्त करता है ॥

॥ तेरहवाँ गुणस्थान समाप्त ॥

अब अयोगि गुणस्थानकी स्थिति बताते हैं—

अथायोगिगुणस्थाने, तिष्ठतोस्य जिनेशितुः।
लघुपञ्चाक्षरोच्चारप्रमितैव स्थितिर्भवेत् ॥ १०४ ॥

श्लोकार्थ—अब अयोगि गुणस्थानमें रहे हुए जिनेशकी पाँच लघु अक्षर उच्चारण मात्र ही स्थिति होती है ॥

व्याख्या—तेरहवें सयोगि गुणस्थानके बाद केवली भगवान चौदहवें अयोगि गुणस्थानमें प्रवेश करता है, उस चौदहवें अयोगि गुणस्थानकी स्थिति पाँच लघु अक्षर उच्चारण मात्र कालकी होती है, अर्थात् अ इ उ ऋ ऌ, इन पाँच लघु अक्षरोंको उच्चारण करते जितना टाइम लगता है उतनी ही स्थिति इस अयोगि गुणस्थानकी होती है।

अब अयोगि गुणस्थानमें भी ध्यानकी संभावना बताते हैं—

तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं, समुच्छिन्नक्रियात्मकम्।
चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ १०५ ॥

श्लोकार्थ—अयोगि गुणस्थानमें परमेष्ठी प्रभुको अनिवृत्ति शब्दान्त समुच्छिन्नक्रियात्मक चौथा शुक्ल ध्यान होता है ॥

व्याख्या—अयोगि गुणस्थानमें अयोगी केवली भगवानको, जिसका आगे चलकर स्वरूप कथन किया जायगा और निवृत्ति शब्द जिसके अन्तमें है ऐसा समुच्छिन्नक्रिय निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यानका चतुर्थ पाया होता है ॥

अब शास्त्रकार पूर्वोक्त चतुर्थ शुक्ल ध्यानका स्वरूप कथन करते हैं—

समुच्छिन्ना क्रिया यत्र, सूक्ष्मयोगात्मिकापि हि।
समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं, तद् द्वारं मुक्तिवेश्मनः ॥१०६॥

श्लोकार्थ–जिस ध्यानमें सूक्ष्म योगात्मक क्रिया भी समुच्छिन्न हो गई है वह मुक्तिरूप मकानका द्वारभूत समुच्छिन्नक्रिया ध्यान कहा है ॥

व्याख्या–जिस ध्यानमें सूक्ष्म योगात्मक भी क्रिया नष्ट हो गई है याने सूक्ष्म कायव्यापार भी जिस ध्यानमें सर्वथा निवृत्तिको प्राप्त हो गया हो उसे समुच्छिन्नक्रिय निवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान कहते हैं, अर्थात् केवली भगवानका जो सूक्ष्म कायव्यापार शेष रहा था, वह भी अब इस शुक्ल ध्यानके चतुर्थ पायेको ध्याते हुए नष्ट हो जाता है, इसीसे शुक्ल ध्यानका यह चौथा पाया मुक्ति मंदिरका द्वार कहा जाता है ॥

अव शिष्यकी तरफसे प्रश्न होता है सो कहते हैं–

देहास्तित्वे प्ययोगित्वं, कथं तद्घटते प्रभो।
देहाभावे तथा ध्यानं, दुर्घटं घटते कथम् ॥ १०७ ॥

श्लोकार्थ–प्रभो! देहके होते हुए अयोगीपना कैसे हो सकता है? और देहके अभावमें ध्यानकी दुर्घटित घटना किस तरह हो सकती है? ॥

व्याख्या–यहाँ पर शिष्य शंका करता है कि महाराज! सूक्ष्म कायव्यापारके होने पर भी पूर्वोक्त केवली भगवान अयोगी कैसे कहा जा सकता है? और यदि देहाभाव है अर्थात् सर्वथा काययोगका अभाव है तो फिर काययोगके अभावमें ध्यानकी संभावना किस तरह हो सकती है? क्योंकि ध्यान तो सयोगीको ही हो सकता है, काय योग नष्ट होने पर ध्यानकी संभावना हो ही नहीं सकती ॥

शिष्यके प्रश्नद्वयको सुन कर गुरु महाराज दो श्लोकों द्वारा उसका समाधान करते हैं–

वपुषोत्रातिसूक्ष्मत्वाच्छीघ्रं भाविक्षयत्वतः ।
कायकार्यासमर्थत्वात्, सति कायेप्ययोगता ॥१०८॥
तच्छरीराश्रयाद्ध्यानमस्तीति न विरुध्यते ।
निजशुद्धात्मचिद्रूप-निर्भरानन्दशालिनः ॥ १०९ ॥
युग्मम् ॥

श्लोकार्थ-शरीरकी अति सूक्ष्मताके कारण शीघ्र ही भावि क्षय होनेसे तथा कायपयोगकी असमर्थता होनेसे कायके सद्भावमें भी अयोगता होती है और उस प्रकारके सूक्ष्म काययोगके होनेसे निज शुद्धात्म चिद्रूप निर्भरानन्दसे शोभने वाले परमात्माको ध्यानका भी अस्तित्व विरोधित नहीं ॥

व्याख्या-इस अयोगि गुणस्थानमें सूक्ष्म काययोग होने पर भी कायव्यापार अति सूक्ष्म होनेके कारण तथा उस सूक्ष्म कायव्यापारको भी शीघ्र ही भावि नष्ट होनेसे अयोगता (अयोगीपना) कही जाती है, क्योंकि यहाँ पर कायव्यापारमें इतनी सूक्ष्मता हो जाती है कि उससे कुछ शरीरका कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। तथा पूर्वोक्त सूक्ष्म शरीर व्यापारके होनेसे अयोगि गुणस्थानमें रहनेवाले, स्वकीय विशुद्ध परमात्म चिद्रूपमय परमानन्दकी लीनताको प्राप्त हुए पूर्वोक्त केवली भगवानको ध्यानकी संभावना भी हो सकती है। अर्थात् सूक्ष्म शरीरव्यापार होनेसे ध्यानका सद्भाव होता है ॥

अब ध्यान संबन्धि निश्चय नय और व्यवहार नय बताते हैं-

आत्मानमात्मनात्मैव, ध्याता ध्यायति तत्वतः ।
उपचारस्तदन्योहि, व्यवहारनयाश्रितः ॥ ११० ॥

श्लोकार्थ-तत्वसे तो आत्मा ही ध्याता आत्माके द्वारा आत्माका ही ध्यान करता है, अन्य सब उपचार व्यवहार नय आश्रित है ॥

व्याख्या-निश्चय नयकी अपेक्षासे आत्मा ही ध्याता-ध्यान करने वाली है और आत्मा ही ध्येयरूप है, याने अपनी आत्म शक्ति द्वारा अपने आत्मस्वरूप ध्येयका ध्यान आत्मा ही करती है। तथा जो कुछ अष्टांग योगप्रवृत्ति-लक्षणरूप उपचार है वह सब ही व्यवहार नयकी अपेक्षासे है ॥

अब अयोगि गुणस्थानके उपान्त्य समयका कृत्य बताते हैं-

चिद्रूपात्ममयो योगी, ह्युपान्त्यसमये द्रुतम् ।
युगपत्क्षपयेत्कर्म-प्रकृतीनां द्विसप्ततिम् ॥ १११ ॥

श्लोकार्थ-चिद्रूपात्ममय योगी अयोगि गुणस्थानके उपान्त्य समयमें एक साथ ही बहत्तर कर्म प्रकृतियोंको क्षय करता है ॥

व्याख्या-केवल ज्ञानात्ममय अयोगी महात्मा अयोगि गुण स्थानमें रहा हुआ अयोगि गुणस्थानके उपान्त्य समयमें शीघ्रतासे सम कालमें ही बहत्तर कर्म प्रकृतियोंको क्षय करता है ॥

जिन कर्म प्रकृतियोंको क्षय करता है उन्हीं कर्म प्रकृतियोंके नाम शास्त्रकार पाँच श्लोकों द्वारा बताते हैं-

देहबन्धनसंघाताः, प्रत्येकं पञ्च पञ्च च ।
अङ्गोपाङ्गत्रयं चैव, षट्कं संस्थानसंज्ञकम् ॥११२॥
वर्णाः पञ्च रसाः पञ्च, षट्कं संहननात्मकम् ।
स्पर्शाष्टकं च गन्धौ द्वौ, नीचानादेयदुर्भगम्॥११३॥

तथागुरुलघुत्वाख्यमुपघातोन्यघातिता ।
निर्माणमपर्याप्तित्वमुच्छ्वासश्चायशस्तथा ॥११४॥
विहायोगतियुग्मं च, शुभास्थैर्यद्वयं पृथक् ।
गतिदिव्यानुपूर्वी च प्रत्येकं च स्वरद्वयम् ॥११५॥
वेद्यमेकतरं चेति, कर्मप्रकृतयः खलु ।
द्वासप्ततिरिमामुक्तिपुरी–द्वारार्गलोपमाः ॥११६॥

श्लोकार्थ–देह, वन्धन, संघातन प्रत्येक पाँच पाँच और तीन अंगोपांग, छः संस्थाम, पाँच वर्ण, पाँच रस, छः संहनन, आठ स्पर्श, दो गन्ध, नीच, अनादेय, दुर्भग, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, निर्माण, अपर्याप्त, उच्छ्वास, अपयश, विहायोगति युग्म, शुभ, अशुभ, अस्थैर्य, स्थैर्य, देवगति, देवानुपूर्वी, प्रत्येक, स्वर द्वय और एक वेदनीय, ये वहत्तर कर्म प्रकृतियाँ निश्चयसे मुक्तिपुरीके द्वारमें अर्गलाके समान होती हैं ॥

व्याख्या–जिन वहत्तर कर्म प्रकृतियोंको अयोगी महात्मा अयोगि गुणस्थानके उपान्त्य समयमें सम कालमें क्षय करता है उनके नाम वताते हैं। प्रथम तो औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर, इन पाँच शरीरोंका क्षय करता है, फिर इन पूर्वोक्त पाँच शरीरोंके वन्धनोंको नष्ट करता है। इसके वाद पाँचों ही संघातनोंको क्षय करता है। फिर औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीन शरीरके अंगोपांग नष्ट करता है, क्योंकि तैजस और कार्मण शरीरको अंगोपांग नहीं होते। इसके वाद छः संस्थान, पाँच वर्ण, पाँच रस, वज्रऋषभनाराचादि छः संहनन, आठ स्पर्श, सुरभि और दुरभि, यह दो

प्रकारका गन्ध, नीच गोत्र, अनादेय नाम, दुर्भग नाम, अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम, निर्माण नाम, अपर्याप्त नाम, उच्छ्‌वास, अपयशनाम, अप्रशस्तविहायो गति तथा प्रशस्तविहायो गति, शुभ नाम तथा अशुभ नाम, अस्थैर्य नाम, स्थैर्य नाम, देव गति, देवानुपूर्वी, प्रत्येक नाम, सुस्वर नाम, दुःस्वर नाम, तथा एक प्रकृति वेदनीय कर्मकी, इस क्रमसे मुक्तिपुरीके मार्गमें विघ्न भूत इन बहत्तर कर्म प्रकृतियोंको केवली भगवान अयोगि नामक चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें एकदम शीघ्रतासे सम कालमें ही नष्ट करता है–सत्तामेंसे क्षय करता है ॥

अब अन्तिम समयमें किन प्रकृतियोंको क्षय करके क्या करता है सो कहते हैं–

अन्त्ये ह्येकतरं वेद्य–मादेयत्वं च पूर्णता ।
त्रसत्वं बादरत्वं हि, मनुष्यायुश्च सद्यशः ॥११७॥
नृगतिश्चानुपूर्वी च, सौभाग्यं चोच्चगोत्रताम् ।
पञ्चाक्षत्वं तथा तीर्थकृन्नामेति त्रयोदशः ॥११८॥
क्षयं नीत्वा स लोकान्तं, तत्रैव समये व्रजेत् ।
लब्धसिद्धत्वपर्यायः, परमेष्ठी सनातनः ॥११९॥
त्रिभिर्विशेषकम् ॥

श्लोकार्थ–एक वेदनीय, आदेय नाम, पूर्णता, त्रसत्व, बादरत्व, मनुष्यायु, सद्यशः, मनुष्य गति तथा अनुपूर्वी, सौभाग्य नाम, उच्च गोत्र, पंचेन्द्रियत्व, तथा तीर्थंकर नाम, इन तेरह कर्म प्रकृतियोंको क्षय करके उसी समयमें सिद्धत्व पर्यायको प्राप्त करके वह सनातन परमेष्ठी भगवान लोकान्त पदको प्राप्त करता है ॥

व्याख्या—अयोगि गुणस्थानके अन्तिम समयमें एकतर वेदनीय, आदेय नाम, पर्याप्त नाम, त्रस नाम, बादर नाम, मनुष्यगति, मनुष्यायु और मनुष्यानुपूर्वी, यश नाम, सौभाग्य नाम, उच्च गोत्र, पंचेन्द्रिय जाति तथा तीर्थंकर नाम, एवं तेरह कर्मप्रकृतियोंको क्षय करके तथा सिद्धत्व पर्यायको प्राप्त करके वह सनातन परमेष्ठी भगवान उसी समयमें शाश्वत लोकान्त पदको प्राप्त होता है। अर्थात् जन्म जरा मृत्युसे रहित होकर वह महात्मा अव्यय मोक्षपदको प्राप्त करता है और वहाँपर उसकी विशुद्ध केवल ज्योतिमय आत्मा सदा काल एक सिद्धत्व स्वभावमें ही स्थिर रहती है। इस अव्यय पदको प्राप्त किये वाद अनन्त कालमें उस परमात्मा को ऐसा कोई समय नहीं आवे कि जिस समय उसकी ज्योतिमय आत्मा उसके स्वभावको छोड़कर विभाव दशाको प्राप्त करे। पूर्वोक्त अयोगि गुणस्थानमें रहा हुआ केवली भगवान अवन्धक होता है, याने कर्म प्रकृतियोंको बाँधता नहीं। एक वेदनीय आदि ऊपर बताई हुई तेरह कर्म प्रकृतियोंको वेदता है। इस गुणस्थानमें अन्तिम दो समयोंसे पहले पचासी कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है तथा अन्तके दो समयोंमें तेरह कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और अन्तिम समयमें समस्त कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता नष्ट होजाती है, इस लिए अयोगि गुणस्थानके अन्त समय केवली भगवानकी आत्मा सर्व कर्म प्रकृतियोंसे निर्लेप होती है॥

अब निष्कर्मात्मा किस प्रकार लोकान्त पदको गमन करती है सो कहते हैं—

पूर्वप्रयोगतोऽसङ्ग-भावाद्बन्धविमोक्षतः।
स्वभावपरिणामाच्च, सिद्धस्योद्र्ध्वगतिर्भवेत् ॥१२०॥

श्लोकार्थ—पूर्व प्रयोगसे, असंग भावसे, बन्धविमोक्षसे तथा स्वभाव परिणामसे सिद्धकी उर्ध्वगति होती है॥

व्याख्या—पूर्व प्रयोग—अचिन्त्य आत्मवीर्यसे जो प्रथम चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम दो समयोंमें पचासी कर्म प्रकृतियोंको क्षय करनेके लिए प्रयत्न विशेष किया है, उस हेतुसे तथा कर्मभारका अभाव होनेसे—कर्म वन्धनसे विमुक्त होनेसे और स्वभाव परिणाम याने तथा प्रकारका निष्कर्मात्माका स्वभाव होनेसे, इन पूर्वोक्त चार हेतुओंसे सिद्ध भगवानकी उर्ध्वगति होती है ॥

अब इन हेतुओंको ही चार श्लोकों द्वारा स्पष्ट तया कहते हैं—

कुलालचक्रदोलेषु, मुख्यानां हि यथा गतिः ।
पूर्वप्रयोगतः सिद्धा, सिद्धस्योर्द्ध्वगतिस्तथा ॥१२१॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाप्स्वलाबुनः ।
कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥१२२॥
एरण्डफलबीजादेर्बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।
कर्मबन्धनविच्छेदात्, सिद्धस्यापि तथेक्ष्यते ॥१२३॥
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च, लेष्टुवाय्वग्निवीचयः ।
स्वभावतः प्रवर्त्तन्ते, तथोर्द्ध्वगति रात्मनः ॥१२४॥
चतुर्भिः कलापकम् ॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार कुलाल चक्रकी दोलाओं तथा वाण वगैरहओंकी गति पूर्वकृत प्रयोगसे सिद्ध होती है, वैसे ही सिद्धकी उर्ध्व गति होती है। जिस तरह मिट्टीके लेपका अभाव होनेसे पानीमें तुंबेकी उर्ध्व गति होती है उसी तरह कर्माभावसे सिद्धकी गति भी उर्ध्व कही है। एरंड फलके वीजकी जैसे वन्ध विच्छेद होनेसे उर्ध्व गति होती है, वैसे ही कर्मवन्ध विच्छेद होनेसे सिद्धकी उर्ध्व गति होती है। तथा जिस तरह स्वभावसे ही पाषाण, वायु

और अग्नि आदिकी क्रमसे नीची, तिरछी और उर्ध्व गति होती है उसी तरह आत्माका भी उर्ध्व गमन करनेका स्वभाव है ॥

व्याख्या-जिस प्रकार कुँभार बरतन बनानेके समय चक्र (चाक) को दंड विशेषके द्वारा प्रथम घुमाकर छोड़ देता है, उसके बाद उस पूर्वकृत प्रयोगसे स्वयमेव ही उसकी गति होती है, अथवा जैसे धनुषसे छूट कर बाण स्वयमेव ही गति करता है, धनुषसे छूटे बाद उसे गति करनेमें सिवा पूर्वप्रयोगके अन्य कुछ भी सहायक नहीं, जिस तरह इन वस्तुओंकी पूर्वकृत प्रयोगसे आगे स्वयमेव ही गति होती है वैसे ही अयोगि गुणस्थानके उपान्त्य समयमें जो शेप कर्म प्रकृतियोंको नष्ट करनेके लिए प्रयत्न किया था या उन कर्म प्रकृतियोंको नष्ट करने रूप जो प्रयोग विशेष किया गया था, उस प्रयोगसे सिद्ध भगवानकी उर्ध्व गति होती है। जिस तरह मिट्टीके लेप सहित कोई एक तुंबा पानीमें नीचे तह पर पड़ा हो और उसका लेप नष्ट होने पर पानीमें न ठहर कर जैसे वह शीघ्र ही जलके ऊपर आ उपस्थित होता है वैसे ही सिद्ध परमात्माकी आत्मा कर्मरूप लेपसे रहित होकर संसार रूप समुद्रमें न रहकर शीघ्र ही एक समय मात्र कालमें चतुर्दश राजलोकके ऊपर जाकर लोकान्त स्थानमें उपस्थित होती है। इसी तरह सण एरंड आदिके फल जब परिपक्व हो जाते हैं तब वे सूर्यका ताप लगनेसे स्वयमेव ही फट जाते हैं और उस वक्त एकाएक उन फलोंके फ़ट जाने पर उनके अन्दर रहा हुआ बीज जिस प्रकार स्वयं ही ऊपरको गमन करता है, बस वैसे ही अयोगि गुणस्थानके अन्दर किये हुए शुक्लध्यान रूप तापसे सिद्ध परमात्माके कर्म बन्धन नष्ट होनेके कारण उसकी उर्ध्व गति होती है। अथवा ईंट, पाषाण, वायु और अग्नि आदि पदार्थोंकी जैसे

स्वभावसे ही क्रमसे नीची, तिरछी और ऊंची गति होती है वैसे ही निष्कर्मा सिद्ध परमात्माकी भी स्वभावसे ही उर्ध्व गति होती है ॥

यदि कोई यहाँपर यह शंका करे कि कर्मरहित होकर आत्मा उर्ध्व ही गति क्यों करती है? वह तिरछी और नीची गति क्यों नहीं करती?

इस शंकाको दूर करनेके लिए शास्त्रकार कहते हैं-

न चाधो गौरवाभावान्न तिर्यक् प्रेरकं विना ।
न च धर्मास्तिकायस्याभावाल्लोकोपरि व्रजेत् १२५

श्लोकार्थ-गुरुताके अभावसे अधो गमन, प्रेरकके विना तिरछा गमन, तथा धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे लोकके ऊपर गमन नहीं करती ॥

व्याख्या-निष्कर्मात्मा कर्म रूप भारके अभावसे अधोगति नहीं करती, क्योंकि भारके विना किसी भी वस्तुकी अधोगति नहीं हो सकती। प्रेरकके अभावसे तिरछी गति नहीं करती और धर्मास्तिकायके अभावसे लोकके ऊपर गति नहीं करती; क्योंकि जीवाजीव पदार्थोंको गमनागमन करनेमें केवल धर्मास्तिकाय ही सहायक है और वह केवल चौदह राजलोकमें ही स्थित है, इस लिए निष्कर्म सिद्ध परमात्मा अलोकमें गमन न करके लोकान्त स्थानमें जाकर ठहर जाता है। अर्थात् उर्ध्व लोकमें भी जहाँ तक धर्मास्तिकायका सद्भाव है वहाँ तक ही सिद्ध भगवान उर्ध्व गति कर सकता है आगे नहीं। जिस प्रकार मछली आदि जलचर जीवोंको गति करनेमें पानी ही सहायक होता है, वे स्थलमें गति नहीं कर सकते, वैसे ही गति सहायक धर्मास्तिकायका अलोकमें

अस्तित्व न होनेसे वहाँ पर किसी भी पदार्थकी गति नहीं हो सकती ॥

सिद्ध परमात्मा प्राग् भार भूमि (सिद्ध शिला) के ऊपर लोकान्तमें जिस स्थितिमें विराजते हैं। अब दो श्लोकों द्वारा उसका वर्णन करते हैं–

मनोज्ञा सुरभितन्वी, पुण्या परमभासुरा।
प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥१२६॥
नृलोकतुल्य विष्कम्भा, सितछत्रनिभा शुभा।
ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः
युग्मम् ॥

श्लोकार्थ–लोकके शिखर पर मनोज्ञ, सुगन्धवाली, पतली, पवित्र, और परमभास्वर प्राग्भारा नामकी पृथ्वी है। वह पृथ्वी मनुष्य लोकके समान विस्तारवाली और श्वेत छत्रके समान आकारवाली है, उस भूमिके ऊपर लोकके अन्तमें सिद्ध भगवान स्थित रहते हैं ॥

व्याख्या–कर्पूरके समूहसे भी अधिक सुगन्धवाली, मनुष्य क्षेत्रके समान विस्तारवाली तथा अति सुकोमल स्पर्शवाली, परम पवित्र, स्फटिक रत्नके समान देदीप्यमान, श्वेत छत्रके समान आकारवाली याने विकासित श्वेत छत्रकी उपमाको धारण करनेवाली तथा चिकनी और सकल शुभोदयमयी, इन पूर्वोक्त विशेषणोंवाली चतुर्दश राज प्रमाण लोकके ऊपरी भागमें प्राग्भारा नामकी एक भूमि है. उसीको सिद्धशिला कहते हैं। वह प्राग्भारा भूमि या सिद्धशिला सर्वार्थ सिद्ध विमानसे बारह योजन ऊपर है, वह मध्य भागमेंसे आठ योजनकी मोटी है और मध्य भागसे

लेकर क्रमसे पतले पनमें प्रान्त भागोंमें तीक्ष्ण धाराके समान है। उस भूमिसे एक योजन ऊपर जाकर लोकाकाशका अन्त आता है, उस एक योजनका जो चौथा कोस है उसके छठे भागमें सिद्धात्माओंकी अवगाहना लोकान्तको स्पर्श करके रहती हैं, अर्थात् पूर्वोक्त स्थानमें लोकालोकके मध्यभागमें सिद्धात्माओंके आत्मप्रदेश स्थित रहते हैं। सिद्धान्तमें फरमाया है-ईसी पब्भाराए, उवरिं खलु जोयणम्मि जो कोसो। कोसस्स य छब्भाए, सिद्धाणो गाहणा भणिया ॥ १ ॥ जो ऊपर लिख चुके हैं सोही इस गाथाका अर्थ समझना.

अब सिद्धात्मप्रदेशोंकी अवगाहनाका आकार बताते हैं-

कालावसरसंस्थाना, या मूषागतसिक्थका ।
तत्रस्थाकाशसंकाशाकारा सिद्धावगाहना ॥१२८॥

श्लोकार्थ-जैसे मूषागत मौम तत्रस्थ आकाशके सदृश आकारवाला होता है, वैसे ही कालावसरमें जो संस्थान है तदाकार सिद्धावगाहना होती है ॥

व्याख्या-सुनारके वहाँ पर जो सुवर्ण गालनेकी गोठाली होती है, उसके अन्दर जैसे आकाश प्रदेश हों तदाकार ही उसमें डाले हुए गरम मौमकी आकृति हो जाती है, बस वैसे ही केवली भगवानका काल करते समय जैसा संस्थान-जैसी आकृति होती है, उसी आकारमें सिद्धावगाहना होती है, अर्थात् केवली प्रभु काल करते समय खड़ी आकृतिमें होंगे तो उनकी अवगाहना तदाकार होगी, यदि केवली भगवान बैठे हुए काल करें तो उनके आत्मप्रदेश तदाकार अवगाहनावाले हो जायेंगे, गरज काल करते समय केवली महात्मा जिस आकृतिमें होंगे उसी आकृतिमें उनकी अवगाहना होगी। यद्यपि रूपी वस्तुको ही साकार कर

सकते हैं, अरूपी वस्तु साकार नहीं हो सकती, परन्तु सिद्ध परमात्माकी अवगाहनाका आकार कथन करनेसे तो सिद्धोंमें साकारता सिद्ध होने पर अरूपी आत्मद्रव्यके अन्दर सरूपत्व दोष उपस्थित होता है। तथा दूसरा यह भी महान् दोप आता है कि सिद्धोंके रहनेका स्थान परिमित ही है याने प्राग्भारा भूमि केवल ४५ लाख योजन प्रमाण है, बस उतने ही आकाशप्रदेशोंमें ऊपर सिद्धात्मा रहते हैं, किन्तु जब उनमें साकारता होगी तो फिर उतने परिमित स्थानमें अनन्त सिद्धात्माओंका समावेश न हो सकेगा। इसके समाधानमें समझना चाहिये कि जिस शरीरमेंसे आत्मा सिद्धि गतिको प्राप्त करती है, उस शरीरके अन्दर जितना नाक, कान, मुँह, पेट आदि पोलानका भाग है, उतना भाग निकाल देने पर शरीरका तृतीयांश न्यून होता है, उस तृतीयांशको वर्जकर शेप रहे हुए शरीर प्रमाण आकाश प्रदेशोंको अवगाहन करके सिद्धात्माके अरूपी असंख्य आत्मप्रदेश रहते हैं, इसी कारण उसे अवगाहना कहते हैं और इसी अपेक्षासे बाल जीवोंको समझानेके लिए शास्त्रकारोंने उसका आकार कथन किया है, अन्यथा अरूपी सिद्धात्माओंका वास्तविकमें कुछ आकार ही नहीं, क्योंकि जब तक आत्माके साथ कर्मोपाधी है तब तक ही वह अनेक प्रकारके आकार धारण करती है, पर कर्मोपाधी रहितात्मा आकार धारण कर ही नहीं सकती ॥

अब सिद्धोंके ज्ञान दर्शनका विपय कहते हैं—

ज्ञातारोऽखिलतत्वानां, द्रष्टारश्चैकहेलया।
गुणपर्याययुक्तानां, त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् ॥१२९॥

श्लोकार्थ—तीन लोकोदरवर्ति गुण पर्याय सहित समस्त तत्वोंको सिद्ध परमात्मा एक हेला मात्रसे जानते हैं और देखते हैं ॥

व्याख्या–चतुर्दश राजलोक प्रमाण क्षेत्रमें गुण पर्याय सहित जितने द्रव्य रहे हुए हैं, चाहे वे रूपी हों या अरूपी, उन सबको सिद्ध परमात्मा साक्षात्कार तया जानते हैं और देखते हैं। अर्थात् केवल ज्ञानोत्पन्न होने पर प्रथम समयमें ही विश्व भरके चराचर रूपी अरूपी जीवाजीवादि समस्त पदार्थोंको भूत भविष्यत् वर्तमान कालमें केवली भगवान साक्षात्कारसे देख लेते हैं। केवल ज्ञान अप्रतिपाति होनेसे सिद्धावस्थामें सदा काल वैसा ही रहता है ॥

अब सिद्धोंके हेतु सहित आठ गुण बताते हैं—

अनन्तं केवलज्ञानं, ज्ञानावरणसंक्षयात् ।
अनन्तं दर्शनं चैव, दर्शनावरणक्षयात् ॥१३०॥
शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे, क्षायिके मोहनिग्रहात् ।
अनन्ते सुखवीर्ये च, वेद्यविघ्नक्षयात्क्रमात् ॥१३१॥
आयुषः क्षीणभावत्वात्, सिद्धानामक्षया स्थितिः ।
नामगोत्रक्षयादेवामूर्त्तानन्तावगाहना ॥ १३२ ॥
त्रिभिर्विशेषकम् ॥

श्लोकार्थ–ज्ञानावरणके क्षय होनेसे अनन्त केवल ज्ञान होता है, दर्शनावरणके क्षय होनेसे अनन्त दर्शन होता है, वेद्य-विघ्नके क्षय होनेसे अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य होता है, आयु क्षय होनेसे अक्षय स्थिति होती है और नाम गोत्रके क्षय होनेसे अनन्त अमूर्त्त अवगाहना होती है ॥

व्याख्या–ज्ञानावरणीय कर्मके क्षय होनेसे सिद्धात्माओंको अनन्त केवल ज्ञान होता है, दर्शनावरणीय कर्मके नष्ट होनेसे अनन्त दर्शन होता है। दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीयके क्षय होनेसे विशुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र होता

है। वेदनीय कर्मके क्षय होनेसे सिद्धोंको अनन्त सुख होता है। आत्मस्वभावमें रमणता रूप जो शास्त्रकारोंने वास्तविक सुख माना है, वह अनन्तसुख सिद्धावस्थामें प्राप्त होता है। अन्तराय कर्म नष्ट हो जानेसे सिद्धोंको अनन्त पराक्रमकी प्राप्ति होती है।

आयुकर्म क्षय होनेसे उन्हें अक्षय स्थिति प्राप्त होती है, नाम गोत्रके क्षय होनेसे सिद्ध परमात्माओंकी अरूपी अनन्त अवगाहना होती है ॥

अब सिद्धोंके सुखका वर्णन करते हैं—

यत्सौख्यं चाक्रिशक्रादि-पदवीभोगसंभवम्।
ततोनन्तगुणं तेषां, सिद्धावक्लेशमव्ययम् ॥ १३३ ॥

श्लोकार्थ—जो सुख चक्रवर्ती तथा शक्रादि पदवीजन्य है उससे भी अनन्तगुणा तथा अक्लेश अव्यय सुख सिद्धोंको सिद्धिमें है।

व्याख्या—संसारमें मनुष्योंके अन्दर चक्रवर्ती और देवताओंके अन्दर शक्रेन्द्रकी पदवीसे बढ़कर अन्य कोई सुख नहीं गिना जाता, अर्थात् संसारभरमें इन दोनों पदवीजन्य सुखको उत्कृष्ट सुख मानते हैं, परन्तु मोक्षमें सिद्धात्माओंको इससे भी अनन्तगुणा सुख होता है। वास्तविकमें तो सिद्धात्माओंके सुखकी उपमा संसारभरमें नहीं, क्योंकि संसारके जितने सुख हैं वे सब ही विनश्वर हैं और सिद्ध परमात्माओंका सुख अव्यय अक्षय अनन्त है, इस लिए संसारभरमें कोई भी ऐसा सुख नहीं कि जो सिद्धोंके सुखकी उपमामें स्थान प्राप्त कर सके ॥

सिद्धोंने जो प्राप्त किया है सो बताते हैं—

यदाराध्यं च यत्साध्यं, यद्ध्येयं यच्च दुर्लभम्।
चिदानन्दमयं तत्तैः, संप्राप्तं परमं पदम् ॥१३४॥

श्लोकार्थ-जो आराध्य है, जो साध्य है, जो ध्येय है और जो दुर्लभ है, वह चिदानन्दमय परम पद सिद्धोंने प्राप्त किया है ॥

व्याख्या-संसारभरमें जो वस्तु आराधकों द्वारा आराधनीय है तथा ज्ञान दर्शन चारित्र द्वारा साधक पुरुष सदा काल जिसकी साधनामें लगे रहते हैं और योगी लोग अनेक प्रकारके ध्यानोंसे जिसका ध्यान करते हैं, उस परमानन्द पदको सिद्ध परमात्माओंने प्राप्त किया है। वह आत्मस्वभाव-रमणता रूप चिदानन्द पद अभव्य जीवोंको सर्वथा अप्राप्य है, तथा कितने एक भव्य प्राणियोंको भी तथा प्रकारकी सामग्रीका अभाव होनेसे सर्वथा दुर्लभ है। पूर्वोक्त परम पद दूरभवि प्राणियोंको वड़े कष्टसे अर्थात् संसारमें वहुत काल परिभ्रमण करनेसे प्राप्त होता है, किन्तु निकटभवी-अल्पसंसारी जीवोंको ही सुलभतासे प्राप्त हो सकता है ॥

अव उस परम पदका स्वरूप वताते हैं-

नात्यन्ताभावरूपा न च जडिममयी व्योमवद् व्यापिनी नो, न व्यावृत्तिं दधाना विषयसुखघना नेष्यते सर्वविद्भिः। सद्रूपात्मप्रसादाद् दृगवगम गुणौघेन संसारसारा, निःसीमात्यक्षसौख्योदय वसतिरनिःपातिनी मुक्तिरुक्ता ॥ १३४ ॥

श्लोकार्थ-अत्यन्ताभाव रूप मुक्ति नहीं, जड़मयी नहीं, व्योमके सदृश सर्व व्यापिनी नहीं, व्यावृत्तिको धारण करनेवाली भी मोक्ष नहीं तथा विषय सुखवाली भी मुक्ति नहीं है, किन्तु सद्रूपात्मप्रसत्तिसे दर्शनादि गुणसमूहसे संसारसे सारभूत तथा निःसीम अतीन्द्रिय सुखका स्थान, निपात रहित सर्वज्ञोंने मुक्ति कथन की है ॥

व्याख्या–संसारके भिन्न भिन्न मतान्तरोंकी अपेक्षासे मोक्षका स्वरूप अनेक प्रकारका माना गया है। बौध मतवाले अत्यन्ताभाव रूप मोक्ष मानते हैं। नैयायिक तथा वैशेषिक मतवाले ज्ञानाभाव रूप मोक्ष मानते हैं, नूतन पंथी याने दयानन्दके अनुयायी लोग मोक्षसे मोक्षात्माको पुनः संसारमें अवतार लेना तथा पुनः मोक्ष होना मानते हैं। कितने एक विषयलोलुपी मोक्षको विषय सुखमयी मानते हैं, उनका मन्तव्य है कि मोक्षमें विषय सुख भोगनेके लिए बड़ी सुन्दर रूपवाली अप्सरायें मिलती हैं, वहाँ पर खाद्य पदार्थ बड़े स्वादीष्ट मिलते हैं, तथा पीनेको बड़ी रसीली मदिरा मिलती है और रहनेके लिए सुन्दर बाग बगीचों सहित मनोहर मकान मिलते हैं। इत्यादि मन इच्छित वस्तुओंकी प्राप्तिरूप मोक्ष मानते हैं। जैमिनी मुनिका मन्तव्य है कि आत्मा कभी मोक्ष हो ही नहीं सकती। कितने एक खरड़ ज्ञानी कहते हैं कि जो वेदोक्त अनुष्ठान करता है वह सर्वथा उपाधिरहित तो नहीं हो सकता किन्तु शुभ पुण्यफलसे सुन्दर देह प्राप्त करके ईश्वरके पास जाकर कितने एक कल्पों तक सुख भोगता है और जहाँ पर मरजी हो वहाँ पर उड़कर चला जाता है। इस प्रकार वहाँ पर चिरकाल तक सुख भोगकर पुनः संसारमें जन्म धारण करता है। इसी तरह अनन्त काल पर्यन्त संसारमें करता रहता है, किन्तु मोक्षात्मा सदा काल एक स्थान पर स्थिति नहीं करती ॥

इस प्रकार भिन्न भिन्न मतवाले मोक्षका स्वरूप भिन्न भिन्न मान बैठे हैं, परन्तु इनमेंसे एकका भी मन्तव्य शुद्ध नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभाव रूप मोक्ष माननेसे तो आत्माका ही अभाव हो जाता है तो फिर मोक्ष ही किसका हुआ ? इस लिए अत्यन्ताभाव रूप मोक्ष माननेसे आत्माका अभाव रूप महान् दोष उपस्थित होता

है। ज्ञानाभाव मोक्ष मानना यह भी दूषित है, क्योंकि ज्ञान आत्माका अविनाभावी गुण है, अतः ज्ञान और आत्माका तादात्म्य संबन्ध है, आत्माका लक्षण ही ज्ञान है। जब लक्षण उड़ जाय तो फिर लक्ष्य कैसे रह सकता है? अर्थात् आत्माके ज्ञान गुणका अभाव होनेसे आत्मा गुणीका भी अभाव हो जायगा, तब फिर मोक्ष किसको प्राप्त हुआ? इस लिए यह मन्तव्य भी अशुद्ध है। जो आत्माको मोक्षमें सर्वव्यापी मानते हैं, उनका मत भी मन कल्पित ही समझना चाहिये, क्योंकि आत्मा किसी भी प्रमाणसे सर्वलोक व्यापी सिद्ध नहीं हो सकती। यदि पाठकोंको यह विषय विशेष तया जानना हो तो स्याद्वाद-रत्नाकरावतारिका नामक ग्रंथ देख लें। जो लोग मोक्षसे पुनः संसारमें अवतार लेना और पुनः मोक्षमें जाना मानते हैं उनका भी मनकल्पित मन्तव्य है, क्योंकि जब आत्माको मोक्षसे भी लौटकर पुनः संसारमें आना पड़े तो फिर वह मोक्ष ही काहेका? वह तो एक भाँडोंका स्वाँग हुआ, इस लिए यह मन्तव्य भी दोषग्रसित है। जो मोक्षमें भी विषय सुख मानते हैं, वे केवल पुद्गलानन्दी ही हैं, उन्हें सिवाय विषय लोलुपताके आत्मस्वरूपका भान ही नहीं है, इस लिए युक्ति युक्त मन्तव्य न होनेसे इन सबकी मानी हुई मुक्ति अनादेय है। सर्वज्ञ देवने जो ज्ञानदर्शन रूप तथा निःसीम आत्यन्तिक सुख रूप, अनन्त अतीन्द्रियानन्द अनुभवस्थान, अप्रतिपाति और आत्मीय सहज स्वभावस्थान रूप मोक्षपद फरमाया है, वह सर्व दोषोंसे रहित होनेके कारण सर्वजन मान्य है। मोक्षात्माओंके रहनेके स्थानका स्वरूप हम प्रथम ही लिख चुके हैं, इस लिए यहाँ पर पुनः लिखनेकी जरूरत नहीं॥

इत्युध्धृतो गुणस्थानरत्नराशिः श्रुतार्णवात्।
पूर्वर्षिसूक्तिनावैव, रत्नशेखरसूरिभिः॥ १३६॥

बृहद्गच्छीय श्री मद्वज्रसेन सूरि महाराजके शिष्य श्री हेमतिलक सूरि महाराजके पट्टधर श्रीमद्रत्नशेखर सूरि महाराजने स्वोपकारार्थ तथा परोपकारार्थ इस ग्रन्थका श्रुत समुद्रसे उद्धार किया है । इस ग्रन्थकी पद्य रचना तो उनसे भी प्राचीन है किन्तु बड़े बड़े ग्रन्थोंसे उधृत करके प्रकरण रूपमें इसे श्री रत्नशेखर सूरि महाराजने किया है ॥

विक्रम सं. १९७४ आषाड शुक्ला अष्टमीके दिन अहमदाबाद उजम बाईकी धर्मशालामें गुरुमहाराजकी कृपासे यह ग्रन्थ समाप्त हुआ ॥

क्षपकश्रेणीका स्वरूप.

क्षपकश्रेणीको आश्रय करनेवाला पुरुष आठ वर्षकी उमरसे अधिक उमरवाला, वज्रऋषभनाराच संघयणयुक्त, शुद्धध्यानी, अविरति, देशविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, संयतिमेंसे चाहे कोई होवे मगर इतना विशेष समझना चाहिये कि जो अप्रमत्त गुणस्थानी संयति हो तो वह पूर्वधर होवे और शुक्लध्यानोपगत होवे। इसके अलावह अन्य धर्मध्यानोपगत होवे। इस प्रकारका जीव शुभयोगमें प्रवर्त्तता हुआ क्षपकश्रेणीको आदरता है।

पढमकसायचउक्कं, इत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं।
अविरयसम्मे देसे, पमत्ति अपमत्ति खीयंति ॥ १॥

व्याख्या—पूर्वोक्त विशेषणों सहित जीव जब क्षपकश्रेणी प्रारंभ करता है तब वह प्रथम अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायोंको खपाता है, याने सत्तामें से नाश करता है। अनन्तानुबन्धि कषायोंके खपाये बाद तीन दर्शन मोहनीयको खपानेके लिए प्रयत्न करता है। यथाप्रवर्त्यादिक जो तीन करण हम प्रथम लिख चुके हैं, उन तीनों करणोंको यथा क्रमसे यहाँ पर करता है। अपूर्वकरण करते समय अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही अनुदितमिथ्यात्व तथा मिश्रके जो दलिये चिर कालसे सत्तामें जमे हुवे थे, उन्हें अब उदयमें आये हुओंको सम्यक्त्व मोहनीयके बीचमें गुणसंक्रम तया संक्रमाता है और सत्तामें रहे हुवे सम्यक्त्व मोहनीय यथा मिश्र मोहनीयके दलोंको संक्रमाता है। प्रथम बड़ा स्थितिखंड उखेड़ता है, उससे दूसरा स्थितिखण्ड विशेष हीन उखेड़ता है और तीसरा उससे भी विशेष हीन उखेड़ता है। इस प्रकार स्थितिखंडोंको उखेड़ता

हुआ अपूर्वकरणके अन्तिम समय पर्यन्त आता है। वहाँ पर अपूर्वकरणके प्रथम समय जो स्थिति की सत्ताथी उससे असंख्य गुण हीन स्थितिकी सत्ता रहती है। इसके बाद अगले समयमें अनिवृत्तिकरणमें भी स्थितिघातादिक सर्व पूर्वके समान ही करता है। अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें दर्शनत्रिक–दर्शनमोहनीय, मिश्रमोहनीय तथा मिथ्यात्वमोहनीय की निकाचनाका उच्छेद करता है। यहाँ पर प्रथम समयसे ही दर्शनमोहनीय त्रिककी स्थिति सत्ताका घात करता करता हजारों ही स्थितिखण्डोंको खपाने पर जितनी असंज्ञीपञ्चेंद्रियकी स्थितिसत्ता होती है, उसके समान ही बाकी रहती है। इसके बाद उतने ही सहस्र स्थिति खण्डोंके खपने पर चौरिन्द्रिय जीवकी स्थिति सत्ताके समान स्थिति सत्ता रहती है. इसके बाद उतने ही सहस्र स्थितिखंड खपने पर त्रीन्द्रिय जीवकी स्थिति सत्ताके समान स्थितिसत्ता रहती है, तथा उतने ही सहस्र स्थितिखंडोंके खपजाने पर द्वि-न्द्रिय जीवकी स्थिति समान सत्ता रहती है और फिर उतने ही हजार स्थितिखंडोंको खपाने पर पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण दर्शन त्रिककी स्थितिकी सत्ता रहती है। इसके बाद तीनों ही दर्शन मोहनीयको प्रत्येकका एक एक संख्यातवाँ भाग छोड़कर बाकी सर्व स्थिति खपा डालता है, बाकी रहे हुवे संख्यातवें भागमेंसे एक संख्यातवाँ भाग छोड़कर बाकी सर्व स्थितिका घात करता है। इस प्रकार बाकी रहे हुवे भागका संख्यातवाँ भाग छोड़ छोड़कर शेष सर्व स्थितिका घात करता करता स्थिति घातके बहुतसे सहस्र खंड अतिक्रमण होने पर मिथ्यात्वके असं-ख्यातवें भागको खंडित करता है और मिश्र तथा सम्यक्त्वका तो संख्यातवाँ ही भाग खंडित करता है।

इस प्रकार बहुतसे स्थितिखंड खपजाने पर मिथ्यात्वका दल, केवल आवलीका मात्र रहता है। मिश्र तथा सम्यत्त्व, इन दोनोंका दल पल्योपमका असंख्यातवां भाग प्रमाण रहता है, वहाँ पर खंडित किये हुवे मिथ्यात्वके दलियोंका मिश्र तथा सम्यक्त्वमें प्रक्षेप करता है, और मिश्रके दलियेंका फक्त सम्यक्त्वमें प्रक्षेप करता है तथा सम्यक्त्वके शेष दलियेंको सम्यक्त्वकी नीचेकी स्थितिमें डालता है, तत्पश्चात् मिथ्यात्व दलिक तो आवलिक मात्र रहता है. उसको भी स्तिवुक संक्रम द्वारा सम्यक्त्वमें संक्रमाकर मिथ्यात्वको तो जड़मूलसे सर्वथा नष्ट करता है, इसके बाद मिश्रका तथा सम्यक्त्वका असंख्यात भाग करके उसे खंडित करता है, शेष एक भाग रखता है, अब बाकी रहे हुवे के असंख्याते भाग करता है और उनमेंसे एक भाग रखकर बाकीके सर्व भागोंको खंडित कर डालता है।

इस प्रकार करते करते कितने एक स्थितिखंड खपजाने पर मिश्र मोहनीय एक आवलिका मात्र रखता है और उस वक्त सम्यक्त्व मोहनीयकी स्थिति सत्ता केवल आठ वर्ष प्रमाणकी रहती है। इस समय वह दर्शन मोहनीयका क्षपक कहा जाता है और निश्चयनयकी अपेक्षासे यहाँ पर उसके सर्व विघ्न शान्त हुवे माने जाते हैं। इसके बाद सम्यत्त्व मोहनीयके स्थिति खंडको अंतर्मुहूर्त्त प्रमाण उखेड़ता है, और उसके दल उदयसमयसे प्रारंभ करके समस्त स्थिति सत्ता समय समय संक्रमाता है, उसमें भी उदयसमय सबही स्तोक संक्रमाता है और उससे दूसरे समय असंख्य गुण संक्रमाता है तथा तीसरे समय उससे भी असंख्य गुण संक्रमाता है, इस प्रकार उत्तरोत्तर समय असंख्य गुणा संक्रमण करता करता गुणश्रेणीके मस्तक पर्यन्त जाता है,

इसके बाद पूर्वसे विशेष स्थिति सत्ताकी हीनताको प्राप्त करता हुआ जहाँ तक स्थितिका अन्तिम समय हो वहाँ तक संक्रमाता है, इस तरह अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण अनेकानेक स्थिति खंडोंको उखेड़ता है और निक्षेपण करता है। इस प्रकार स्थिति दलमें संक्रम करता हुआ दो चरम स्थितिखंड पर्यन्त जाता है। उन दो स्थिति खंडोंसें अन्तिम खंड असंख्य गुणा करता है। जब उस अन्तिम स्थिति खंडको उखेड़ता है उस वक्त उसे क्षपककृतकरण. कहते हैं। इस कृतकरण कालमें वर्त्तता हुआ जीव यदि पूर्वमें आयु बाँधा हो तो वह आयु पूर्ण होने पर मृत्यु प्राप्त करके चारों गतिमेंसे मृत्यु समय आत्मपरिणाम विवश चाहे उस गतिमें जा सकता है। पूर्वकालमें उसे शुक्लेश्याथी मगर मृत्यु समय अन्य लेश्यामें जाता हैं, इस लिये सप्तक क्षयका आरंभ करनेवाला योगी प्रस्थापक होकर निष्ठापक होने पर भी चार गतिवाला जीव कहा जाता है। जो जीव प्रथम आयुबाँध कर क्षपकश्रेणी आदरता है और चार अनन्तानुबन्धिकषाय खपाकर पीछे आयुपूर्ण होने पर मृत्युके संभवसे जो श्रेणीसे पीछे हठे तो भी अनन्तानुबन्धिकषायोंका बीजभूत मिथ्यात्व होनेके कारण पुनः अनन्तानुबन्धिकी चौकड़ीको सजीवन कर सकता है। यहाँ पर कोई शंका करे कि पूर्वमें आयु बाँधनेवाला किस तरह क्षपकश्रेणी करे ?। इसके उत्तरमें समझना चाहिये कि जो जीव चतुर्थ गुणस्थानसे सम्यक्त्व आश्रय करके क्षपकश्रेणी प्रारंभ करता है, उसी जीव आश्रित यह वर्णन समझना, बाकी जो जीव अष्टम गुणस्थानसे क्षपक गुणश्रेणी प्रारंभ करता है, वह जीव तो पूर्वकालमें आयु बाँधता हीं नहीं। जिस जीवने मिथ्यात्वको सत्तासे नष्ट कर दिया है वह मिथ्यात्वके विनाश होनेके कारण फिर अनन्तानुबन्धि

नहीं बाँधता, क्योंकि मिथ्यात्वरूप बीजके नष्ट होने पर अनन्तानुबन्धि रूप अंकूरका उत्पन्न होना संभव नहीं हो सकता। चार अनन्तानुबन्धि और तीन मोहनीय, ये सात प्रकृतियाँ क्षय करके जो जीव चढ़ते परिणामसे काल करे वह अवश्यमेव देवगतिमें ही जाता है और यदि पतित परिणामसे मृत्यु पावे तो अनेक परिणामकी धारा होनेके कारण जैसा परिणाम वैसी ही गतिको प्राप्त करता है। जिस जीवने पूर्वमें आयु बांध लिया है वह जीव यदि इस अवसरमें काल न करे तो भी पूर्वोक्त सात प्रकृतियों को क्षय करके उसी परिणामसे प्रवर्त्ते, परन्तु आगे दूसरी चारित्र मोहनीयकी प्रकृति पखानेके लिए प्रयत्न न करे, क्षीणसप्तक बद्धायुजीव उसी भवमें मुक्तिपदको प्राप्त न करे किन्तु तीसरे या चतुर्थ भवमें तो अवश्यमेव मोक्ष प्राप्त करे, क्योंकि जिसने प्रथमदेव आयु या नरक आयु बांध लिया हो वह देवगति या नारकीमेंसे मनुष्य भव प्राप्त कर चारित्र ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करता है। जिसने पूर्वमें मनुष्यका तथा तिर्यंचका आयु बांध लिया हो और इसके बाद सात प्रकृतियों को क्षय किया हो वह जीव नियमित असंख्य वर्षका आयु बांधता है, परन्तु संख्यात वर्षका आयु बांधकर पीछे सात प्रकृतियोंको क्षय न करे, वह जीव वहाँ काल करके युगलियोंमें जाता है, और वहाँ पर नियमित ही भव प्रत्यय देव संबन्धि आयुका वन्ध करता है, अतएव वहाँसे देवगतिमें ही जाता है और वहाँ पर भवप्रत्यय सम्यक्त्व होनेपर भी मनुष्य गतिका ही बन्ध करता है। देवगतिसे मनुष्यमें आकर फिर आगेका आयु न बांधे, किन्तु चारित्र ग्रहण करके शेष इक्कीस प्रकृतियां मोहनीय कर्मकी क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करता है, इस अपेक्षासे चौथे भवमें

मोक्ष प्राप्त करता है। मोहनीय कर्मकी शेष इक्कीस प्रकृतियोंको खपानेके लिए उद्यम करता हुआ जीव यथा प्रवृत्यादि तीन करण करता है। तीनों करणोंका स्वरूप पूर्ववत् ही समझना चाहिये, परंतु यहाँ पर वह अप्रमत्त गुणस्थानमें यथाप्रवृत्ति करण अपूर्वकरण गुणस्थानमें अपूर्वकरण और ९ वें अनिवृत्तिबादर-गुणस्थानमें अनिवृत्तिकरण करता है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें स्थितिघातादिक करके अप्रत्याख्यानीय तथा प्रत्याख्यानीय कषायोंको इस प्रकार खपाता है कि अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके प्रथम समयमें ही उस कषायाष्टककी पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण मात्र स्थिति रहती है। अब अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें स्त्यानर्द्धि त्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि) नरकद्विक (नरकगति--नरकानुपूर्वी) तिर्यञ्चद्विक (तिर्यंच गति तिर्यंचानुपूर्वी) तथा एकेन्द्रियजाति, द्वींद्रियजाति, तेन्द्रियजाति, चौरिन्द्रियजाति, स्थावर नामकर्म, आतापनाम कर्म, उद्योतनामकर्म, सूक्ष्मनाम कर्म और साधारण नामकर्म एवं सोलह प्रकृतियोंको उद्वेलन संक्रमण द्वारा प्रतिसमय उखेड़ता है, और जब पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति रहे तब इन पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियोंको प्रतिसमय बँधती हुई प्रकृतियोंमें गुणसंक्रमणसे खपाते खपाते जब अनिवृत्ति बादर गुणस्थानके असंख्य विभाग व्यतीत हो जावें, और एक विभाग शेष रहे उस वक्त पूर्वोक्त सर्व प्रकृतियोंको क्षीण करता है। कितने एक आचार्योंका ऐसा मत है कि अप्रत्याख्यानीय तथा प्रत्याख्यानीय आठ कषाय, जिन्हें पूर्वमें खपाने लगा था उन्हें पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियोंके बीचमें ही खपा देता है। दूसरा मंतव्य ऐसा है कि प्रथम पूर्वोक्त आठ कषाय खपा कर पीछे सोलह प्रकृतियोंको खपाता है।

पूर्वोक्त प्रकारसे आठ कषायों अथवा मतभेदसे सोलह प्रकृतियों-को क्षीण करके पश्चात् नपुंसक वेद खपाता है, तदनन्तर स्त्रीवेद क्षय करता है, इसके बाद हास्यादिक नोकषायका दल जो क्षेपण करते शेष रहा है, उसे संज्वलनके क्रोधमें प्रक्षेपण करता है। अब पुरुषवेदका बन्धादिक विच्छेद हो जाने पर आवलिका मात्र शेष कालमें करण विशेष करके पूर्वोक्त नोकषायके शेष दलि-योंको संज्वलन क्रोधके अंदर गुणसंक्रम तथा प्रक्षेपण करता है और संज्वलन क्रोधका बन्धादिक विच्छेद हो जाने पर आवलिका शेष प्रति करण विशेष करके संज्वलन मानके अन्दर गुणसंक्रमण तथा प्रक्षेपण करता है। यहाँ पर करण शब्दसे आत्माका अध्य-वसाय समझना चाहिये, संज्वलन मानका बन्ध विच्छेद हो जाने पर पुनः आवलिका शेष कालमें करण विशेष करके संज्वलनकी मायामें गुणसंक्रमण तथा प्रक्षेपण करता है। एवं संज्वलनके लोभ-पर्यन्त समझना, किन्तु जब संज्वलनके लोभका बन्ध विच्छेद हो जाता है तब उस संज्वलनके अत्यन्त सूक्ष्मलोभको आत्माके अध्यवसाय रूप पूर्वोक्त करण विशेष द्वारा क्षीण करता है, अर्थात् सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानमें जो संज्वलनका सूक्ष्म लोभ सत्तामें शेष रहा था, उसे भी निर्मूलित कर देता है, एवं सूक्ष्म संपराय गुण-स्थानके अन्तमें मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंको सत्तामेंसे नष्ट करता है, नपुंसकवेद खपाकर स्त्रीवेद खपाता है, इसके बाद हास्यादि छः प्रकृतियों को समकालमें ही खपानेके लिए प्रयत्न करता है। इस तरह अन्तर्मुहूर्त्तमात्र कालमें नोकषाय कानाश तथा साथमें ही पुरुषवेदका बन्ध उदय और उदीरणा विच्छेद होती है, तथा एक समय कम दो आवलिका कालमें जो पुरुषवेदका दलिक बाँधा हो उसे वर्जकर बाकी सब सत्तासे नष्ट कर देता है। अब वह क्षपक

अवेदक कहा जाता है। जो जीव पुरुषवेदमें क्षपक श्रेणी करता है उसका यह विधि समझना। जो जीव नपुंसक वेदोदयमें श्रेणी प्रारंभ करता है, वह जीव प्रथम स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद, इन दोनोंको समकालमें खपाता है और उसी समयमें पुरुषवेदका वन्धादिक विच्छेद करता है। तदनन्तर अवेदक हुआ हुआ पुरुषवेद तथा हास्यादि ६ प्रकृतियोंको समकालमें ही क्षय करता है। जो जीव स्त्रीवेदोदयमें श्रेणी प्रारंभ करता है वह जीव प्रथम नपुंसकवेद नष्ट करता है और पीछे स्त्रीवेद क्षय करता है, तथा इन दोनों वेदोंको क्षय करते समय ही पुरुषवेदका वन्ध उदय और उदीरणाका विच्छेद करता है, इसके वाद पुरुषवेद तथा हास्यादि ६ प्रकृतियोंको क्षय करता है।

इस प्रकार क्षीण कषाय होकर शेष कर्म प्रकृतियोंकी स्थिति-घात, रसघात, गुणश्रेणी गुणसंक्रम वगैरह पूर्वोक्त प्रकारसे ही करता है। क्षीण कषायकालका संख्यातवाँ भाग व्यतीत होवे तव तक तो पूर्वोक्त प्रकारसे ही स्थितिघातादिक करता है. मगर जब एक भाग शेष रहता है, उस वक्त पांच ज्ञानावरणीय, पांच अन्तराय, छः दर्शनावरणीय (चार दर्शनावरणीय और दो निद्रा) एवं सोलह प्रकृतियोंकी सत्तास्थिति कम करता हुआ क्षीण कषाय-कालमें ही समान करता है, फिर सोलहकी सोलह प्रकृतियोंको समान कालमें ही उदय उदीरणा द्वारा यावत् एक समय अधिक आव-लिका मात्र शेष रहे वहाँ तक वेदता है, इसके बाद उदीरणा बंद हो जाती है, किन्तु एक आवलिका मात्रमें उदय द्वारा वेदता है। सो क्षीण कषायके दो अंतिम समय पर्यन्त वेदता है, अन्तिम समयमें पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियोंको सत्तामेंसे नष्ट कर देता है। इसके अगले समयसे ही व्यवहारनयकी अपेक्षासे सयोगी केवली

कहा जाता है और निश्चयनयकी अपेक्षासे तो पूर्वोक्त प्रकृति-योंको क्षय किया इसी समय केवली कहा जाता है, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मोंको समूल सत्तासे नष्ट करके क्षपकयोगी मोक्षके निदानभूत केवल ज्ञानको प्राप्त करता है। केवल ज्ञानके द्वारा अनादि अनन्तसृष्टिके चराचर पदार्थोंको केवलज्ञानी महात्मा हाथ पर रक्खे हुवे ऑवलेके फलके समान देखता है। विश्वमें ऐसा कोई गुप्त पदार्थ नहीं कि जिसे केवलज्ञानी महात्मा न जान सके. क्योंकि लोकालोकमें सर्व गुणपर्यायों सहित सर्व द्रव्योंको भूत भविष्यत् वर्त्तमान कालमें केवलज्ञानी महात्मा साक्षात्कार तया देखता है। केवलज्ञानी महात्मा कमसे कम तो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तया आठ वर्ष कम पूर्वकोटी वर्ष पर्यन्त पृथ्वी तलपर वि-चरकर जन्म मरणसे रहित होकर मोक्ष पदको प्राप्त करता है। जिस केवलज्ञानी महात्माका वेदनीयादिक कर्म आयु कर्मसे अ-धिक रहा हो वह केवलज्ञानी वेदनीय कर्मको आयु कर्मके बरा-बर करनेके लिए आठ समय मात्र कालमें समुद्घात करता है। जिसका स्वरूप हम प्रथम लिख चुके हैं तथापि यहाँ प्रसंगसे पुनः लिखे देते हैं। समुद्घात इस प्रकार करता है, प्रथम समयमें तो ऊंचे नीचे चौदह राजलोक प्रमाण अपने आत्मप्रदेशोंको दंडाकार विस्तृत करता है, दूसरे समय उन दंडाकार आत्मप्रदेशोंमेंसे दोनों तर्फ आत्मप्रदेश विस्तृत करता है अर्थात् दोनों ओर लोक पर्यन्त उत्तर दक्षिण आत्मप्रदेशोंको फैला देता है, उस वक्त आत्म प्रदेश कपाटके आकारमें हो जाते हैं तीसरे समयमें पूर्व और पश्चिममें आत्मप्रदेशोंकी दो श्रेणी करता है, वह भी लोक पर्यन्त आत्मप्र-देश विस्तृत होते हैं, उस समय मंथानके आकारवाले आत्मप्रदेश

हो जाते हैं, चौथे समयमें मंथानके समान आत्मप्रदेशोंमें जो चारों तर्फ वीच वीचमें जगह खाली पड़ी थी उसको आत्मप्रदेशों द्वारा पूर्ण करके चौदह राजलोकमें व्यापक हो जाता है, अब चौदह राजलोकमें कोई एसा पुद्गल परमाणु नहीं रहा कि जिसे केवलज्ञानी महात्माके आत्मप्रदेशोंने न स्पर्श किया हो। पाँचवें समयमें आयुकर्मके साथ वेदनींय कर्मकी समानता करके मंथानके चारों तर्फ जो आँतरे आत्मप्रदेशोंसे परिपूर्ण थे उन्हें अपने शरीरमें संहरण करता है, सातवें समयमें कपाटाकार आत्मप्रदेशोंको संहरण करता है और आठवें समयमें दंडाकार आत्मप्रदेशोंको संहरण करता है, एवं आठ समयकी केवलज्ञानी महात्मा केवल समुद्घात करता है। समुद्घात करते वक्त प्रथम समय और आठवें समय औदारिक काय योग होता है, दूसरे समय, छठे समय तथा सातवें समय, इन तीनों समयोंमें औदारिक मिश्रकाय योग होता है, और वीचके जो वाकी तीन समय हैं उनमें कार्मण योग होता है, अत एव उन वीचके तीन समयोंमें केवलसमुद्घाती अनाहारी होता है, कितने एक केवलज्ञानी महात्मा विना ही समुद्घात किये मुक्तिको प्राप्त करते हैं, क्योंकि सभी केवली समुद्घात करें ऐसा कुछ नियम नहीं, इसके लिए श्री पन्नवणा सूत्रमें लिखा है कि–' सव्वेविणं भंते, केवली समुग्घायं गच्छेइ गोयमा नो इणमट्ठे समट्ठे जस्साउएण तुलाइं बंधणेहिं ठिइहेय भवोपज्जइ कम्माइं। न समुग्घायं सम गच्छई अगंतूण समुग्घाय मणंतकेवली जिणा जरामरण विप्पमुक्का सिद्धिवरगयं गया। जिस केवली महात्माके आयु कर्म और वेदनीय कर्म समान हों वह महात्मा समुद्घात न करे और जो समुद्घात करते हैं वे भी अन्तरमुहूर्त्त आयु रहनेपर करते हैं। सयोगी केवली महात्मा शेष

रही हुई चार अघाती कर्म प्रकृतियोंको क्रमसे उदय उदीरणा द्वारा क्षय करता हुआ अयोगि केवलि गुणस्थानको प्राप्त करके सिद्धि गतिमें सिधारता है, अर्थात् सर्व कर्मोंसे मुक्त होकर मुक्ति पदको प्राप्त करता है ॥

समाप्त.